☐ प्रकाशक—श्री जवाहर साहित्य समिति
(अन्तर्गत—श्री जवाहर विद्यापीठ)
भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

☐ संस्करण—प्रथम, १००० (सन् १९४९)
द्वितीय, १००० (सन् १९६७)
तृतीय, ११०० (सन् १९७९)
चतुर्थ, ११०० (सन् १९८९)

(श्रीमती राजकुंवर बाई मालू द्वारा प्रदत्त राशि से प्रकाशित)

☐ मूल्य— ९) रुपया मात्र

☐ मुद्रक—
जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, बीकानेर-राज.
पिन—३३४००१

प्रकाशकीय

श्री जवाहर किरणावरणी की १८ वीं किरण का यह चतुर्थ संस्करण 'पाण्डव चरित' (द्वितीय भाग) उपस्थित करते हुए अत्यन्त आनन्द हो रहा है । पूर्व में 'पाण्डव चरित' के दोनों भाग बलुन्दा (मारवाड़) निवासी उदार-हृदय दानवीर श्रीमान् सेठ छगनमल जी सा. मूथा के द्रव्य से प्रकाशित हुई थी । कालान्तर में वह संस्करण समाप्त हो जाने पर इस ग्रंथ के दोनों भागों का दूसरा संस्करण धर्म-निष्ठ सुश्राविका बहिन श्रीमती राजकुंवर बाई मालू, बीका-नेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर को साहित्य प्रकाशन के लिए प्रदत्त धन-राशि से प्रकाशित हुआ । पाण्डव चरित (दोनों भाग) का तीसरा संस्करण भी इसी धन-राशि से प्रकाशित हुआ था । सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए बहिन श्री की अनन्य निष्ठा चिर-स्मरणीय रहेगी ।

श्री जवाहर-साहित्य की महिमा अनिर्वचनीय है । इसमें नीति एवं धर्म का सार तत्त्व समाविष्ट है, जिसको ग्रहण करके कोई भी भव्य-जन नैतिक एवं आध्या-त्मिक सन्मार्ग पर अग्रसर होते हुए अपना जीवन सफल और सार्थक बना सकता है । यही कारण है कि जवाहर-किरणावलियों को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है और इनके नए संस्करण प्रकाशित करने का शुभ अवसर उप-स्थित हो रहा है ।

आजकल कागज एवं मुद्रण आदि का व्यय काफी बढ़ जाने से इस संस्करण की कीमत बढ़ाने के लिए हमें बाध्य होना पड़ा है ।

प्रकाशन कार्य में श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और उसके द्वारा संचालित जैन आर्ट प्रेस का श्री जवाहर विद्यापीठ को पूर्ण सहयोग रहा है एतदर्थ श्री जवाहर विद्यापीठ उनके प्रति अपना आभार प्रकट करती है ।

मंत्री—

श्री जवाहर साहित्य समिति

(अन्तर्गत, श्री जवाहर विद्यापीठ)

भीनासर (बीकानेर) राज.

दो शब्द

जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज के व्याख्यान-साहित्य का कई दृष्टिकोणों से बड़ा महत्त्व है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के द्वारा जैन तत्त्व के स्वरूप को हृदयंगम किया, अतएव उनके प्रतिपादन में अपूर्वता है। जैन-सिद्धांतों को जीवन-व्यवहार्य रूप देने में उनको जैसी सफलता मिली है, शायद ही किसी ने पाई हो। मुख्यतया इसी कारण इस साहित्य की ओर मेरा आकर्षण है।

भारतीय साहित्य में रामायण और पाण्डव चरित दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। एक में भ्रातृप्रेम का ज्वलंत आदर्श खड़ा किया गया है और यह बतलाया गया है कि भाई-भाई में स्नेह होने पर किस प्रकार सुख, शांति और समृद्धि बढ़ती है। दूसरे, पाण्डव-चरित में भाइयों-भाइयों के पारस्परिक विरोध के कारण होने वाले भीषण परिणाम का चित्रण किया गया है। इस प्रकार ये दोनों चरित एक ही वस्तु के आपस में विरोधी दो बाजू उपस्थित करते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। इन कथाओं से हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इसी कारण भारतवर्ष में रामायण और पाण्डव-चरित की कथाएं बहुत प्रिय और प्रसिद्ध हैं। भारत के सभी मुख्य धर्मों के साहित्य में इन कथाओं को स्थान मिला है।

पूज्य श्री ने ये प्रवचन देकर जैन-शासन की बहुमूल्य सेवा की है। पाठकों से अनुरोध है कि वे इस साहित्य का मनन-चिन्तन करें और अपने जीवन के स्तर को ऊंचा उठावें।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

अनुक्रमणिका

卐

पाण्डव चरित

[द्वितीय-भाग]

१ : गांधारी का गंभीर त्याग

जैन कथा के अनुसार भीष्म द्वारा हरण की गई तीनों कन्याओं का विवाह विचित्रवीर्य के साथ ही हुआ था। उन तीनों स्त्रियों से धृतराष्ट्र, पान्डु और विदुर का जन्म हुआ। विचित्रवीर्य तीनों रानियों के भोग में ऐसे फंस गए कि अतिभोग के कारण उन्हें क्षय रोग हो गया और अन्त में इसी रोग के कारण उनका देहान्त हो गया।

जो पुरुष सिर्फ भोग के लिए ही विवाह करता है, उसको ऐसी ही गति होती है। शास्त्रों में इसीलिए पत्नी को 'धर्म-सहायिका कहा है। अगर वह कर्म-सहायिका ही होती तो उसे धर्मसहायिका कहने की क्या आवश्यकता थी ? जैसे दवा रोग मिटाने को खाई जाती है, उसी प्रकार विवाह धर्म की सहायता करने और कामवासना को संयत करने

के लिए किया जाता है। इससे विपरीत, जो पत्नी को कामक्रीड़ा की सामग्री समझता है, उसकी गति विचित्रवीर्य के समान होती है।

अतिभोग के कारण विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई और राज्य का भार फिर भीष्म के कन्धों पर आ पड़ा।

जिस वस्तु के प्रति आसक्ति रहती है, वह दूर-दूर भागती है और आसक्ति का त्याग कर देने पर वह आप ही आ जाती है। भीष्म ने राज्य का त्याग किया तो पहली बार तो शान्तनु के मरने के बाद, जब चित्रांगद छोटा था, उन्हें राज्य करना पड़ा। चित्रांगद की मृत्यु के पश्चात् जब विचित्रवीर्य छोटा था, तब दूसरी बार उन्हें राज्य मिला। अब विचित्रवीर्य के मरण के बाद फिर राज्य उनके चरणों में आ गिरा। ऐसी स्थिति में संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु के लिए भी धर्म से च्युत होना उचित नहीं है।

विचित्रवीर्य के लड़के पाण्डु का विवाह कुन्ती के साथ हुआ। धृतराष्ट्र अन्धे थे। वह जब युवावस्था में आये तो भीष्म ने जान लिया कि यह ब्रह्मचर्य पालने में समर्थ नहीं है। ऊपर से ब्रह्मचारी होने का ढोंग करना और भीतर पोल चलाना ब्रह्मचर्य को बदनाम करना है। यह सोचकर उन्होंने धृतराष्ट्र का विवाह कर देने का विचार किया। उन्हें मालूम हुआ कि गांधार देश के महाराजा सबल की कन्या गांधारी सभी तरह से योग्य है। भीष्म ने सबल के पास दूत भेज कर कहलाया—भीष्म ने धृतराष्ट्र के लिए आपकी कन्या गांधारी की मंगनी की है।

भीष्म का दूत राजा सवल के पास पहुँचा। उसने सवल को प्रणाम किया। परिचय जानकर राजा ने उसका सत्कार किया और पूछा—क्षत्रियों में सूर्य के समान भीष्म ने क्या आज्ञा दी है ?

दूत ने कहा—अपने भाई के लड़के धृतराष्ट्र के लिए, जो आंखों से अंधे हैं, आपकी कन्या की याचना की है।

दूत की वात सुनकर महाराजा सवल पशोपेश में पड़ गए। सोचने लगे—क्या करना चाहिए ? क्या अंधे को अपनी कन्या दे दूं ? यह नहीं हो सकता। भीष्म कितने ही महान् पुरुष क्यों न हों, मैं अपनी कन्या नहीं दे सकता। साधारण आदमी भी अंधे वर को अपनी कन्या नहीं देता तो मैं राजा होकर कैसे दे सकता हूं ?

यह सोचकर उन्होंने दूत को कहा—अच्छा, अभी विश्राम करो। वाद में विचार कर उत्तर दूंगा। दूत वहां से उठा और अपने डेरे पर चला गया।

दूत के चले जाने के वाद सवल ने अपने लड़के शकुनि से पूछा—थोड़े दिनों वाद राज्य का सारा भार तुम्हारे सिर आने वाला है। इसलिए तुम वतलाओ कि इस विषय में क्या करना उचित है ?

शकुनि ने कहा—अपने वलावल का विचार करते हुए गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र के साथ कर देना ही उचित है। अपने देश पर विदेशियों और विधर्मियों के आक्रमण होते रहते हैं और देश की रक्षा करने में कठिनाई होती है। यह सम्वन्ध होने से कुरुवंश अपना शत्रु न वनकर सहायक वनेगा और कुरुवंश की धाक से विना युद्ध ही देश

की रक्षा हो जायगी । यह तो कन्या ही देनी पड रही है, अवसर आने पर तो देश की रक्षा के लिए पुत्र का भी रक्त देना पड़ता है ।

सबल—संग्राम में पुत्र का रक्त देना दूसरी वात है और कन्या के अधिकार को लूटकर देश की रक्षा चाहना दूसरी बात है । राज्य-रक्षा के लोभ में पड़कर कन्या का अधिकार छीन लेना क्या क्षत्रियों के लिए उचित कहा जा सकता है ? गांधारी स्वेच्छा से शत्रु के साथ युद्ध करके अपना रक्त बहा दे तो हर्ज नहीं हैं, परन्तु कन्या के अधिकार का वलात् अपहरण करके उस पर अन्याय करना उचित नहीं है । गांधारी की इच्छा के बिना मैं उसका विवाह नहीं करूंगा । ऐसा करने पर चाहे राज्य ही क्यों न चला जाय ! हां, गांधारी स्वेच्छा से अगर अंधे-पति की सेवा करना चाहे तो बात दूसरी है । मैं उसे रोकूंगा भी नहीं । लेकिन उसकी इच्छा के विरुद्ध मैं अंधे के साथ उसका विवाह नहीं कर सकता ।

कुमार शकुनि का पक्ष गिर गया । सभा में उपस्थित सभी लोगों ने राजा के विचार का समर्थन किया और कहा—आज राजा होकर भी अगर कन्या के अधिकार को लूट लेंगे तो दूसरे लोग आपके चरित का न जाने किस प्रकार दुरुपयोग करेंगे ।

राजा कहने लगा—राजकुमारी की सम्मति किस प्रकार ली जाय ? क्या मैं स्वयं ही पूछ लूं ? तब पुरोहित ने कहा—पहले मैं पूछ लेता हूं । फिर आप भी पूछ लें, जिससे बात भलीभांति पुष्ट हो जायेगी । राजा ने पुरोहित

की बात स्वीकार कर ली।

गांधारी राजकुमारी थी, युवती थी, सुन्दरी थी और गुणवती थी। पाण्डव-चरित के अनुसार वह ऐसी सती थी कि किसी के शरीर को देखकर ही वज्र बना सकती थी। ऐसे गांधारी की मंगनी अन्धे पुरुष के लिए आई है। इस समय गांधारी का क्या कर्त्तव्य है? अगर पिता सगाई कर देते तो गांधारी के सामने विचारने के लिए कोई समस्या ही न रहती, मगर पिता ने इस सम्बन्ध को स्वीकार करने या न करने का उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर छोड़ दिया है। अब गांधारी को ही अपने भविष्य का निर्णय करना है। देखना चाहिए, कुमारी गांधारी क्या निर्णय करती है?

जब राजसभा में पूर्वोक्त निर्णय हो गया तो राजसभा में रहने वाली दासी यह सब सुनकर गांधारी के पास दौड़ी आई। उस समय गांधारी अपनी सखियों के साथ महल के एक कमरे में बैठी हास्य-विनोद कर रही थी।

दासी दौड़ती हुई वहां आ पहुंची। उसे उदास और घबराई देखकर गांधारी ने कारण पूछा। कहा—क्यों, आज क्या समाचार है? उदास क्यों है?

दासी—गजब हुआ राजकुमारी!

गांधारी—क्या गजब हुआ? पिता और भाई तो सकुशल हैं?

दासी—और सब के लिए तो कुशल-मंगल है, आप के लिए ही अनर्थ हुआ है!

गांधारी ने मुस्करा कर कहा—देख, मैं तो, आनन्द में बैठी हूं। मेरे लिए अनर्थ हुआ और मैं मजे में हूं और तू घबरा रही है !

दासी—मैं एक ऐसी बात सुनकर आई हूं कि आपके हितैषी को दुःख हुए बिना रह ही नहीं सकता। आप सुनेंगी तो आपको भी दुःख होगा।

गांधारी - मुझे विश्वास नहीं होता कि मैं अपने संबंध में कोई बात सुनकर तेरी तरह घबरा उठूंगी। मैं अच्छी तरह जानती हूं कि घबराहट किसी भी मुसीबत की दवा नहीं है। वह स्वयं एक मुसीबत है और मुसीबत बढ़ाने वाली है। खैर, बतला तो सही, बात क्या है ?

दासी—कुरुवंशी राजा शान्तनु के पौत्र और विचित्र-वीर्य के अंधे पुत्र धृतराष्ट्र के लिए तुम्हारी याचना करने के लिए भीष्म ने दूत भेजा है। इस विषय में राजसभा में गरमागरम बातचीत हुई है।

गांधारी—यह तो साधारण बात है। जिसके यहां जो चीज होती, मांगने वाले आते ही हैं। अच्छा, आगे क्या हुआ, सो बतला।

दासी—महाराज ने कहा कि मैं अंधे के साथ गांधारी का विवाह नहीं करूंगा। राजकुमार ने कहा कि अपना बल बढ़ाने के लिए, राज्य की रक्षा करने के लिए तथा राज्य पर आये संकट को टालने के लिए धृतराष्ट्र के साथ गांधारी का विवाह कर देना चाहिए।

गांधारी—फिर ? विवाह निश्चित हो गया ?

दासी—नहीं, अभी कोई निश्चय नहीं हुआ है। इस से मैं आपको सूचना देने आई हूँ। राजकुमारी, चेत जाओ। आपकी रक्षा आपके हाथ में है। महाराज ने आपकी इच्छा पर ही निर्णय छोड़ दिया है। पुरोहित आपकी सम्मति जानने आएंगे। अगर जन्म भर के दुःख से बचना चाहें तो किसी के कहने में मत आना। दिल की बात साफ-साफ कह देना। संकोच में पड़ी तो मुसीबत में पड़ी।

इसी बीच मदनरेखा नामक सखी ने कहा—बड़ी सयानी बन रही है तू, जो राजकुमारी को यह उपदेश दे रही है! क्या यह इतना भी नहीं समझतीं कि अंधा पति जिंदगी भर की मुसीबत है! जब राजकुमारी को स्वयं निर्णय करना है तो फिर घबराहट की बात ही क्या रही? जो बात अबोध कन्या भी समझती है, वह क्या राजकुमारी नहीं समझेंगी?

चित्रलेखा नामक सखी गौर से राजकुमारी के चेहरे की ओर देख रही थी। चेहरे पर कुछ भी मनोभाव न पाकर वह बोली—सखी, आप किस विचार में हैं? यह तो नहीं सोच रही हो कि पति अन्धा हो तो भले रहे, कुरुवंश की राजरानी बनने का गौरव तो मिलेगा? इस लोभ में मत पड़ जाना। राजरानी बनना तो आपका जन्मसिद्ध अधिकार है ही। जहां जाओगी, राजरानी ही बनोगी। लेकिन धृतराष्ट्र जन्मांध है, तुम लोभान्ध हो जाओगी तो जोड़ी अच्छी बनेगी! पर बहिन, जान-बूझकर कोई अंधा नहीं बन सकता। पहली बार ही ऐसा दो टूक जवाब देना कि पुरोहितजी पुरोहिताई करना भूल जाएं और उलटे पैरों भाग खड़े हों।

अपनी सखियों की सम्मति सुनकर और यह समझ-कर कि इनकी बुद्धि एवं विचारशक्ति इतनी ही उथली है, गांधारी थोड़ा मुस्कराई। उसने कहा—सखियों, तुम मेरी भलाई सोचकर ही सम्मति दे रही हो, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्या तुम्हें मालूम है कि मेरा जन्म किस उद्देश्य के लिए हुआ है?

एक सखी ने उत्तर दिया—बचपन से साथ रहती है तो जानती क्यों नहीं? आपका जन्म इसलिए हुआ है कि आप किसी सुन्दर और शूरवीर राजा की अर्धांगिनी बनें, राजकुमार पुत्र को जन्म दें, राजकीय सुख भोगें और राज-माता का गौरव पावें।

गांधारी—सखी, यह सब तो जीवन में साधारणतया होता ही है, पर जीवन का उद्देश्य यह नहीं है। तुम इतना ही समझती हो, इससे आगे की नहीं सोचती। मैं सोचती हूं कि मेरा जन्म जगत् का कोई कल्याणकारी कार्य करने के लिए हुआ है। यह जीवन बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है—कौन जानता है, कब है और कब नहीं? अत-एव इसके सहारे कोई विशिष्ट कार्य कर लेना चाहिए, जिससे दूसरों का कल्याण हो।

सखी—तो क्या आप अभी से वैरागिन बनेगी? संयम ग्रहण करेंगी?

गांधारी—संयम और वैराग्य का उपहास मत करो। जिसमें संयम धारण करने का सामर्थ्य हो और जो संयम ग्रहण कर ले, वह तो सदा वन्दनीय है। अभी मुझ में इतनी शक्ति नहीं है। मेरी अन्तरात्मा अभी संयम लेने की साक्षी

नहीं देती । अभी मुझमें पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की क्षमता नहीं जान पड़ती ।

चित्रलेखा—जब ब्रह्मचर्य नहीं पालना है और विवाह करना ही है तो क्या सूझता पति नहीं मिलेगा ? अंधे पति को वरण करने की क्या आवश्यकता है ?

गांधारी—मेरा विवाह भोग के लिए ही नहीं, धर्म के लिए होगा । मैं पतिसेवा के मार्ग से परमात्मा के समीप पहुँचना चाहती हूं ।

मदन०—पतिव्रतधर्म का पालन करना तो उचित ही है । आप दुराचार नहीं करेंगी, यह भी हमें मालूम है पर अंधे को पति बनाने से क्या लाभ है ? आपका यह सौन्दर्य और शृंगार निरर्थक नहीं हो जायेगा ?

गांधारी—सखी, तुम वास्तविक बात तक नहीं पहुँ-चती । शृंगार पतिरंजन के लिए होता है, लेकिन मेरी मांग अंधे पति के लिए आई है । अतएव मेरा शृंगार पति के लिए नहीं, परमेश्वर के लिए होगा । शृंगार का अर्थ शरीर को सजाना ही नहीं है । बाह्य शृंगार पति-रंजन के लिए किया जाता है, लेकिन मुझे ऐसा सिंगार करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । असली की कमी होने पर ही नकली चीज का आश्रय लिया जाता है । सेवा में कमी होने पर सिंगार का सहारा लिया जाता है । लेकिन मेरा सिंगार पतिसेवा ही होगा । ऐसा करके ही मैं आत्मसंतोष पाऊंगी और पत्नी का कर्त्तव्य स्त्रियों को समझाऊंगी । अतएव पति अंधा है या सूझता, इस बात की मुझे कोई चिन्ता नहीं ।

पुरोहितजी के आने पर मैं विवाह की स्वीकृति दे दूंगी। जगत् को स्त्री का वास्तविक कर्त्तव्य बतलाने का सुअवसर मुझे प्राप्त होगा।

गांधारी का विचार जानकर उसकी सखियां चक्कर में पड़ गईं। वे आपस में कहने लगीं—राजकुमारी को क्या सूझा है? वह अंधे के साथ विवाह करने को तैयार हो रही हैं, यह बड़ा अनर्थ होगा!

इसी समय राजपुरोहित आ पहुँचे। गांधारी ने पुरोहित का यथायोग्य सत्कार किया और कहा- आज बड़े भाग्य हैं कि हमारे कुल को मार्ग बतलाने वाले कुलपुरोहित पधारे हैं। आज्ञा कीजिए, कैसे पधारने की कृपा की?

गांधारी की शिष्टता और विनम्रता देख पुरोहित गहरे विचार में पड़ गया। सोचने लगा—यह सुकुमार फूल क्या अन्धे देवता पर चढ़ने के योग्य है? कैसे इसके सामने प्रस्ताव किया जाय! फिर भी हृदय कठिन करके पुरोहित ने कहा—राजकुमारी! आज एक विशेष कार्य से आया हूं। तुम्हारी सम्मति लेना आवश्यक है।

गांधारी—कहिए न, संकोच क्यों कर रहे हैं? ऐसी क्या बात है?

पुरोहितजी—अन्धे धृतराष्ट्र के लिए आपकी सगाई आई है। इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय का भार आप पर छोड़ दिया गया है। महाराज ने आपकी सम्मति लेने मुझे भेजा है। आप क्या उत्तर देती हैं?

पुरोहितजी की बात सुन कर गांधारी कुछ मुस्कराने लगी पर बोली नहीं। चित्रलेखा ने कहा—पुरोहितजी! राजसभा की सब बातें राजकुमारी सुन चुकी हैं। इन्होंने अन्धे धृतराष्ट्र को पति बनाना स्वीकार कर लिया है। आप वृद्ध हैं, इसलिए कहना नहीं चाहतीं।

पुरोहित को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—आर्य जाति में विवाह जीवन भर का सौदा माना जाता है। जीवन भर का सुख—दुःख विवाह के पतले सूत्र पर ही अवलम्बित है, विवाह शारीरिक ही नहीं वरन् मानसिक सम्बन्ध भी है और मानसिक सम्बन्ध की यथार्थता तथा घनिष्ठता में ही विवाह की पवित्रता और उज्ज्वलता है। इस तथ्य पर ध्यान रखते हुए, इस विषय में राजकुमारी को मैं पुनः विचार करने के लिए कहता हूं। तुम सब भी उन्हें सम्मति दे सकती हो।

गांधारी भली—भांति जानती थी कि अन्धे के साथ मुझे जीवन भर का सम्बन्ध जोड़ना है। उसे अन्धे के साथ विवाह करने से इन्कार कर देने की स्वाधीनता थी। सखियों ने उसे समझाने का प्रयत्न भी किया। गांधारी युवती है और सांसारिक आमोद—प्रमोद की भावनाएं इस उम्र में सहज ही लहराती है। लेकिन गांधारी मानों जन्म की योगिनी है। भोगोपभोग की आकांक्षा उसके मन में उदित ही नहीं हुई। उसने सोचा—दुष्टों द्वारा पिता सदा सताये जाते हैं और इस कारण पिताजी की शक्ति क्षीण हो रही है। यदि मैं उनके लिए औषध रूप बन सकूं तो क्या हर्ज है? मुझे इससे अधिक और क्या चाहिए? यद्यपि इस

सम्बन्ध के कारण पिताजी को लाभ हैं फिर भी उन्होंने इसके निर्णय का भार मेरे ऊपर रखा है, यह पिताजी की कृपा है।

गांधारी को उदारता की यह शिक्षा कहां मिली थी ? किसने उसे आत्मोत्सर्ग का यह सुनहरा पाठ सिखाया था ! अपने पिता और भ्राता की भलाई के लिए यौवन की उन्मादभरी तरंगों के बीच चट्टान की भांति स्थिर रहने की, अपने स्वर्णिम सपनों के हरे-भरे उद्यान को अपने हाथों उखाड़ फेंकने की, अपनी कोमल कल्पनाओं का बाजार लुटा देने की और सर्वसाधारण के माने हुए सांसारिक सुखों को शून्य में परिणत कर देने की सुरक्षा कौन जाने गांधारी ने कहां पाई थी ! आज का महिला-समाज इस त्याग के महत्त्व को समझ नहीं सकता। जहां व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों के लिए संघर्ष छिड़े रहते हैं, उस दुनिया को क्या पता है कि गांधारी के त्याग का मूल्य क्या है ? आजकल की लड़कियां भले ही बड़े-बड़े पोथे पढ़ सकती हों पर पोथे पढ़ लेना ही क्या सुशिक्षा है ? जो शिक्षा सुसंस्कारी नहीं उत्पन्न करती, उसे सुशिक्षा नहीं कह सकते। आज की शिक्षा-प्रणाली में मस्तिष्क के विकास की ओर ध्यान दिया जाता है, हृदय को विकसित करने की ओर कोई लक्ष्य नहीं दिया जाता। यह एक ऐसी त्रुटि है, जिसके कारण जगत् स्वार्थ लोलुपता का अखाड़ा बन गया है।

गांधारी ने अपनी सखियों से कहा था—मैं भोग के लिए नहीं जन्मी हूं। मेरे जीवन का उद्देश्य सेवा करना है। अंधा पति पाने से मेरे सेवाधर्म की अधिक वृद्धि होगी।

अतएव इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने से सभी तरह लाभ ही लाभ है। पिताजी को लाभ है, भाई का संकट कम होता है, मुझे सेवा का अवसर मिलता है और आखिर वह (धृतराष्ट्र) भी राजपुत्र हैं। उनका भी तो ख्याल किया जाना चाहिए। कौन जाने मुझे सेवा का अवसर मिलना हो और इसलिये वे अंधे हुए हों!

मनुष्य बीमार होता है अपनी करनी से, लेकिन सेवा-भावी डाक्टर तो यही कहेगा कि मुझे अपनी विद्या प्रकट करने का अवसर मिला है! इसी तरह गांधारी कहती है— क्या ठीक है, जो मुझे सेवा का अवसर देने के लिए ही राजकुमार अन्धे हुए हों!

पुरोहित ने कहा राजकुमारी, अभी समय है। इस समय के निर्णय का प्रभाव जीवनव्यापी होगा। आप सोलह सिंगार सीखी हैं, परन्तु अंधे पति के साथ विवाह हो जाने पर आप सोलह सिंगार किसे बतलाओगी? आपके सिंगार एवं सौन्दर्य का अंधे पति के आगे कोई मूल्य न होगा। इसलिए कहता हूं कि निःसंकोच भाव से सोच-समझकर निर्णय करो।

गांधारी फिर भी मौन थी। उसे मौन देख उसकी सखियों ने कहा—यह सब बातें इन्होंने सोच ली हैं। सिंगार के विषय में इनकी शिक्षा यह है—

बहिनो री कर लो ऐसो सिंगार,
जांसौं उतरोगी भव-पार ।।बहिनो.।।

अंग शुचि कर फिर कर मन्जन वस्त्र अनूपम धार,
राग-द्वेष को तन मन जल से विद्या वसन संवार ।
केश संवारहु मेल परस्पर न्याय की मांग निकार,
धीरज रूपी महावर धारहु यश हो टीका लिलार ।
क्षण न व्यर्थ ऐसे तिल धारो मिस्सी पर-उपकार,
लाज रूपी कज्जल नयनन में ज्ञान अरगजा चार ।
आभूषण ये तन में पहनो सम संतोष विचार,
मेंहदी पुष्पकली सों शोभित दान सुभग आचार ।
बीड़ी विनय की रखना मुख में गंध सुसंगत धार,
पिया तेरो देखत ही रीझै लखि सोलह सिंगार ।

गांधारी की सखियां पुरोहित से कहती हैं—राजकुमारी ने हमें सिखलाया है कि स्त्रियां स्वभावतः शृंगार-प्रिय होती हैं, लेकिन जो स्त्री ऊपरी सिंगार ही करती है और भीतरी सिंगार नहीं करती, उसके और वेश्या के सिंगार में क्या अन्तर है ? यह बात नहीं है कि कुलांगनाएं ऊपरी सिंगार करती ही नहीं, लेकिन उनके ऊपरी सिंगार का सम्बन्ध भीतरी सिंगार के साथ होता है । क़दाचित् उनका ऊपरी सिंगार छिन भी जाए तो भी वह अपना भाव-सिंगार कभी नहीं छिनने देतीं ।

राजकुमारी कहती हैं—मैं अन्धे पति की सेवा करके भी यह बतला दूंगी कि पति और परमात्मा की उपासना कैसे होती है ?

गांधारी के उच्च भावनाओं से भरे विचार सुनकर पुरोहित दंग रह गया । उसने गांधारी की सखियों से कहा—

राजकुमारी कैसे भी उच्च विचारों में गई हों परन्तु तुम्हारी बुद्धि कहां गई है ? तुम तो छोटी हो, आखिर तो दासी ही ठहरी न !

महाराज चतुरसिंहजी का बनाया हुआ एक भजन है । उन्होंने कहा है—

बेनां, आपां ओछी नी हां ।

ओछी मत रे कणी कियो के नीच जात नारी हां,
नारी हां तो कांई वियो म्हैं नारां की नारी हां ।

स्त्री ओछी है और हम बड़े हैं, या हम ओछे हैं, और स्त्री बड़ी है, यह हिसाब भूल जाओ । स्त्रियों को हल्की समझोगे तो पुरुष हल्की के जन्मे जाएंगे । जब स्त्रियां ओछी हैं तो पुरुष उनके द्वार पर विवाह करने क्यों जाते हैं ? क्या कोई कन्या बरात लेकर वर के घर लग्न करने जाती है ?

दासियां कहने लगीं—पुरोहितजी, आप हमें ओछी और दासी भले कहिए, पर हम दासी हैं भी तो ऐसे उत्तम विचार वाली राजकुमारी की दासी हैं । राजकुमारी सरस्वती का अवतार हैं तो हम इनकी पुजारिनें हैं । हम तो इन्हीं की मति मानेंगी ! जो सिंगार इनका है, वही हमारा भी है । जब यह अन्धे पति को स्वेच्छा से स्वीकार करती हैं तो हम क्या कहें ! हम तो इनकी सेविकाएं हैं ।

महाभारत में कहा है कि अंधा पति मिलने से गांधारी

ने अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली थी । लेकिन यह कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उनके सेवाव्रत में कमी आ जाती है । हां, विषय-वासना से बचने के लिए अगर कोई आंखों पर पट्टी बांधे तो उसे बुरा भी नहीं कहा जा सकता । लेकिन गांधारी जैसी सती के विषय में यह कल्पना घटित नहीं होती । अगर आंखों पर पट्टी बांधने का अर्थ यह हो कि वह जगत् के सौन्दर्य से विमुख हो गई थी—सौन्दर्य के आकर्षण को उसने जीत लिया था तो पट्टी बांधने की कल्पना मानी जा सकती है ।

अन्त में पुरोहित ने कहा—तो राजकुमारी का यही अभिमत है, जो उनकी सखियां कहती हैं ?

गांधारी—पुरोहितजी, सखियां अन्यथा क्यों कहेंगो ? आप पिताजी को सूचना दे सकते हैं ।

पहले पहल गांधारी के सामने समस्या उपस्थित हुई कि अन्धे के साथ विवाह करना उचित है या नहीं ? मगर गांधारी शीघ्र ही एक निर्णय पर पहुँच गई । अगर आप भी संसार पक्ष त्याग कर धर्म-पक्ष का विचार करेंगे तो अवश्य ही आपका हित होगा । कैसा ही कठिन प्रसंग क्यों न हो, धर्म का स्मरण करने से कठिनाई दूर हो जाएगी । धर्म और पाप की संक्षिप्त व्याख्या यही है कि स्वार्थत्याग धर्म है और स्वार्थ-साधने की लालसा पाप है ।

प्रश्न किया जा सकता है—अगर धर्म से सुख ही मिलता है तो राजा चेटक, कोणिक से क्यों पराजित हुआ ?

इस प्रश्न में धर्म को बनियापन की तराज़ू पर तोलने की चेष्टा की गई है। धर्म महान् है। धर्म को बनियापन की तराज़ू पर तोलने वाले लोग उसी भावना से धर्म का आचरण करते हैं, जिस भावना से बनिया ब्याज सहित पाने की आशा से रकम लगाता है। लोगों से कहा जाय कि तेला करने से खूब लक्ष्मी मिलेगी तो शायद बहुत लोग तेला करने वाले मिल जाएं। लेकिन सात्विक भाव से तेला करने वाले विरले ही मिलेंगे। इसका एकमात्र कारण धर्म के विषय में भी बनियापन रखना है। चेटक धर्म करते हुए नहीं हारा था किन्तु धर्म करने में जीता था, इसलिए उसने धर्म के लिए अपना सर्वस्व लगा दिया था। आज कहां हैं वैसे राजा जो कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो जाते थे? कहा जाता है कि मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहब भी एक फाख्ता के लिए अपने गाल का गोश्त देने को तैयार हुए थे!

राजा चेटक ने प्रबल संग्राम किया था। उसने अपने दस दुहिताओं को एक-एक बाण में उड़ा दिया था। कोणिक की सहायता करने के लिए इन्द्र आ गया था और इस कारण व्यवहारतः चेटक जीत न सका, फिर भी वह नरक का अतिथि नहीं बना। उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, क्योंकि उसके हृदय में धर्मभावना थी। उसने श्रावकधर्म की मर्यादा का पालन करते हुए युद्ध किया था।

तात्पर्य यह है कि स्वार्थभावना का त्याग करना ही धर्म है। गांधारी ने स्वार्थ त्याग दिया। गांधारी जैसी सती का चरित्र भारत में ही मिल सकता है, दूसरे देश में मिलना

कठिन है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अमेरिका जैसे सभ्य गिने जाने वाले देश में ९५ प्रतिशत विवाह-संबंध टूट जाते हैं—तलाक हो जाती है। भारतवर्ष में इस पतन की अवस्था में यह बात नहीं है।

गांधारी में अपनी मातृभूमि के प्रति भी आदर्श प्रेम था। अन्धे पति का वरण करने में उसका एक उद्देश्य यह भी था कि इससे मेरी मातृभूमि का कष्ट मिट जाएगा। अपनी मातृभूमि की भलाई के लिए उसने इतना त्याग करना अपना कर्त्तव्य समझा। उसने सोचा—अन्धे धृतराष्ट्र के साथ विवाह कर लेने से मेरा धर्म बढ़ेगा और मेरी मातृ-भूमि की रक्षा भी होगी तो ऐसा करने में क्या हर्ज है?

सांसारिक दृष्टि से देखा जाय तो अंधे के साथ विवाह करने में कितना कष्ट है! अंधा पति होने से सिंगार व्यर्थ होता है और सिंगार की भावना पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। इस प्रकार से जीवन का ही बलिदान करना पड़ता है। मगर गांधारी ने प्रसन्नतापूर्वक यह सब स्वीकार कर लिया। गांधारी ने इतना त्याग किया तो क्या आप अपनी मातृभूमि के लिए पापमय वस्त्र भी नहीं त्याग सकते?

अन्त में धृतराष्ट्र के साथ गांधारी का विवाह हो गया। गांधारी धृतराष्ट्र की पत्नी बनकर हस्तिनापुर आई।

२ : गांधारी और कुन्ती

पाण्डु की दो रानियां थी—कुन्ती और माद्री। धृत-राष्ट्र की रानी गांधारी थी। गांधारी जेठानी और कुन्ती तथा माद्री देवरानियां थीं।

वसन्त ऋतु की वहार देखते ही बनती थी। ऋतुराज का स्वागत करने के लिए वन ने अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किया था। वृक्ष नवीन और कोमल पत्तों से वेष्टित थे। वन में प्रकृति का अनुपम सौन्दर्य बिखरा पड़ा था। भांति-भांति की सुगंध फैलाते हुए रंग-बिरंगे फूल हंस रहे थे। कोयल पंचम स्वर से मादक संगीत गा रही थी। सारा वातावरण अपूर्वता धारण किये हुए था। हस्तिनापुर के युवक और युवतियां वसन्त का उत्सव मनाने के लिए उद्यानों में गये थे।

गांधारी, कुन्ती और माद्री भी अपनी सखी-सहेलियों के साथ एक सुन्दर वन में गईं। तीनों रानियां भ्रमण की थकावट मिटाने के लिए एक सघन वृक्ष की छाया में बैठ गईं और वन के शीतल, सुगन्धित मंद पवन का सेवन करने लगीं।

कुन्ती अपनी जेठानी गांधारी का बहुत आदर करती है। वह गांधारी के त्याग का महत्त्व भली-भांति समझती है। उपयुक्त अवसर देखकर वह कहने लगी—आज इस दरबार में एक विषय पर चर्चा होनी चाहिए। मैं उस चर्चा को आरम्भ करती हूं।

कुन्ती का यह प्रस्ताव सुनकर सब चुप हो गईं और यह जानने के लिए उत्सुक हुईं कि कुन्ती देवी क्या कहना चाहती है?

कुन्ती ने प्रश्न किया—वास्तव में कुल बड़ा है या रूप बड़ा है अथवा धर्म बड़ा है?

गांधारी की एक दासी ने कहा—कहने को तो सभी धर्म को बड़ा कहते हैं, लेकिन अपने जीवन-व्यवहार में जो धर्म को बड़ा मानकर चलता है, उसी की वास्तव में बड़ाई है। आपने धर्म को बड़ा मानकर उसे क्रियात्मक रूप भी दिया है। आप यादव कुल में उत्पन्न महाराज अंधकवृष्णि की पुत्री, महाराज समुद्रविजय की बहिन और भगवान् अरिष्टनेमि की बुआ है। इसलिए आप ही धर्म का पालन कर सकती हैं। यद्यपि महाराज पाण्डव को पाण्डु रोग है और रोगी को कोई स्त्री अपना पति नहीं बनाना चाहती, परन्तु आपने भोग को महत्त्व नहीं दिया—धर्म को ही महत्त्व दिया। इसी कारण आपने स्वयंवर-मण्डप में अन्य अनेक राजाओं को छोड़कर रोगी महाराज पाण्डु के गले में ही वरमाला डाली। आपके हृदय में धर्म न होता और धर्म को आपने बड़ा न समझा होता तो आप ऐसा क्यों करती? धर्म का पालन करने के लिए कन्या को धर्मनिष्ठ वर ही खोजना

चाहिए। महाराज पाण्डु धर्मात्मा हैं, इस कारण आपने उन्हें स्वीकार किया है। दूसरे राजाओं में आपने धर्म नहीं देखा। वे आपको सुगंधहीन पलाश-पुष्प के समान प्रतीत हुए, क्योंकि धर्म ही बड़ा है। हां, धर्म के साथ ही कुल भी अच्छा हो और रूप भी हो तो और भी अच्छा है।

गांधारी की दासी की बात सुनकर कुन्ती ने कहा—वड़े के सेवक भी बड़े होते हैं, यही कारण है कि यह दासी भी बड़े ऊंचे विचारों की है। लेकिन धर्म के विषय में मैं बड़ी नहीं हूं, हमारी जेठानीजी बड़ी हैं। मैंने पाण्डु रोग वाले पति को चुना है मगर इन्हें देखो, जिन्होंने नेत्रहीन पति को स्वेच्छा से स्वीकार किया है। यह धर्म का ही प्रताप है। वास्तव में बड़ाई इन्हीं की है। यह धन्य हैं और कृत-पुण्य हैं। प्रत्यक्ष देख लो न, हम कैसा सिंगार करके आई हैं और इनका वेष इतना सादा है। आभूषणों में भी हाथ में मंगल-चूड़ी और गले में मंगल-हार हैं। इसके सिवाय शरीर पर कोई आभूषण नहीं है। स्त्री के लिए क्या यह साधारण त्याग है ?

गांधारी मन ही मन कुन्ती को सराहना करने लगी। उसने सोचा—यादवकुल की पुत्री होकर भी यह ऐसा न कहेंगी तो फिर कौन कहेगी ? इनके विचार इतने ऊंचे न होंगे तो किसके होंगे ?

इतने में गांधारी की सखी कहने लगी—धर्म की गति बहुत सूक्ष्म है। इसलिए धर्म का पालन करना भी सहज नहीं है। त्यागियों के धर्म का पालन करना तो दूर रहा, गृहस्थ-

धर्म के पालन करने में भी प्राण देने पड़ते हैं। धर्म तलवार की धार के समान है। मैं आप दोनों के कथन का यह आशय समझी हूं कि आप दोनों ही धर्मशीला है। धर्मी पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा तो स्त्री मात्र की रहती है लेकिन स्वयं धर्मशीला बनने की भावना विरली स्त्री में ही होती है और फिर धर्म का आचरण करने वाली तो हजारों-लाखों में भी कोई शायद ही मिल सकती है। पति कदाचित् पापी भी हो लेकिन पत्नी अगर अपने धर्म का पालन करती है तो उसका पाला हुआ धर्म ही उसके काम आता है। पति के पाप से पत्नी को नरक नहीं मिलता। अतएव हमें दूसरे की ओर न देखकर अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए।

कुन्ती ने कहा—तुम जो बात कहती हो, वह हमारी जेठानीजी में पूरी तरह घटित होती है। मैंने तो उनमें (पाण्डु में) धर्म का गुण देख कर ही उन्हें वरण किया था, मगर जेठानीजी तो जेठजी से बिल्कुल ही अपरिचित थीं। इन्होंने जेठजी को कभी देखा तक नहीं था। इन्होंने सिर्फ अपने धर्म का पालन करने के लिए ही यह सम्बन्ध स्वीकार किया है।

कुन्ती के कथन का कई स्त्रियां यह अर्थ समझती हैं कि पति चाहे भूख के मारे मरे या जीए, अपने को सामायिक-पोसा करने से मतलब ! लेकिन जिसके हृदय में संसार के प्रति इस प्रकार का वैराग्य होगा, वह कुमारी रह कर ही दीक्षा ले लेगी। उसे विवाह करके गृहस्थी का उत्तरदायित्व लेने की क्या आवश्यकता है ? पहले विवाह-बन्धन में पड़ कर उत्तरदायित्व लेना और फिर उस उत्तरदायित्व से

विधिवत् छुटकारा पाये विना ही इस प्रकार की निवृत्ति बत-लाने का ढोंग करना धर्म नहीं कहा जा सकता। राजा की नौकरी करके काम पड़ने पर धर्म का बहाना करके घर में बैठे रहना और काम के बनाव-बिगाड़ की उपेक्षा करना धर्म को धोखा देना है। वर्णनाग नतुवा श्रावक बेले के तप में था। चेटक राजा ने उसे युद्ध में साथ चलने के लिए बुल-वाया। तब उसने बेला के बदले तेला किया और युद्धभूमि में जाने को तैयार हो गया। जो लोग धर्म के अनन्य सेवक होंगे, वे दूसरे की नौकरी करके अपने सिर पर दूसरा उत्तर, दायित्व ही न लेंगे।

कुन्ती कहती है—'धर्म परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र है। यह बात जेठानीजी ने भली-भांति समझी है। यही कारण हैं कि इन्होंने नेत्रहीन पति का वरण किया है। अतएव इन्हीं में धर्म ज्यादा है। यह कहना तो बहाना मात्र है कि अमुक धर्म नहीं पालता, इसलिए मैं भी धर्म नहीं पालूंगा। अगर अमुक आदमी धर्म का पालन करे तो मैं भी पालूं! सच्चा धर्मप्रेमी ऐसी बात मुंह से भी नहीं निकालेगा। चाहे सारा संसार धर्म का परित्याग कर दे परन्तु स्वतन्त्र धर्म वाला अपना धर्म नहीं छोड़ेगा।'

कुन्ती ने गांधारी की सखियों से, गांधारी की ओर संकेत करते हुए कहा—'धर्म का स्वतंत्र रूप से पालन करने वाली आप ही हैं। आप जगत् के स्त्रीसमाज के लिए आदर-णीया हैं, आदर्श हैं और आपके आचरण से महिला-समाज का गौरव बढ़ा है।'

कुन्ती के कथन का माद्री ने भी समर्थन किया। उसने

कहा—'बहिन कुन्ती ठीक ही कहती हैं । गांधारी देवी का त्याग, संयम और धर्माचरण हम सब के लिए अनुकरणीय है । पति के प्रति कर्त्तव्य-पालन करना भी कठिन होता है, पर इन्होंने तो कर्त्तव्य-पालन के लिए ही पति बनाया है । कहां तो हमारा यह सहज-सिंगार और कहां इनकी यह सादगी से भरी वेषभूषा !'

इस जमाने में गहने वाली ही बड़ी मानी जाती है। पुरुष-समाज में भी लगभग यही बात है। लोग अयोग्य होते हुए भी कीमती गहने पहन कर दूसरों की आंखों में धूल झौंकना चाहते हैं और अपने को योग्य प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं । बहुतेरे ऐसे अविवेकी भी मिलेंगे जो गहने देख कर ही रीझ जाते हैं । परन्तु वेश्या का शृंगार देख कर उस पर रीझने वाले क्या पागल नहीं हैं ? गांधारी को उसके पीहर से गहने न मिले हो या धृतराष्ट्र के यहां गहनों की कमी हो और इसीलिए गांधारी ने गहने न पहने हों, ऐसी बात नहीं है। वह द्रव्य-शृंगार की अपेक्षा भाव-शृंगार को ही अधिक महत्त्व देती थी ।

गांधारी की सखी कहने लगी—शृंगार के विषय में इनके विचार वास्तविकता-पूर्ण हैं । जब इनकी मंगनी आई तो हमने इन्हें समझाया था कि आप अन्धे के साथ सम्बन्ध स्वीकार न करें । नेत्रहीन के साथ विवाह करके क्यों अपना जीवन बिगाड़ोगी ? आपका यह रूप, यौवन और शृंगार कौन देखेगा ? इसके उत्तर में इन्होंने हमें शृंगार का असली तत्त्व समझाया था । वह मैं आपको भी बतलाती हूं ।' इतना कहकर उसने गाना आरम्भ किया—

वहिनो री कर लो ऐसो सिंगार,
जिससे होश्रो भव – जल पार ।
अंग शुचि कर फिर कर मन्जन वस्त्र अनूपम धारो,
राग–द्वेष को तन मन जल से, विद्या वसन संवारो ।※

इन्होंने कहा था—'बहिनो, यह जन्म हमें बाह्य शृंगार
ऊजने के लिए नहीं मिला है। कल्याण होगा तो भाव-शृंगार
से ही होगा। स्त्री का पहला शृंगार शरीर का मैल उतारना
है। मैल उतारने के बाद स्नान करना और फिर वस्त्र धारण
करना शृंगार माना जाता है। लेकिन इतने में ही शृंगार की
इतिश्री नहीं हो जाती। ऐसा शृंगार तो वेश्या भी करती है।'

मैं नहीं कहता कि गृहस्थ लोग शरीर पर मैल रहने
दें, पर जल से शरीर का मैल उतारते समय यह मत भूल
जाओ कि शरीर की तरह हृदय का मैल धोने की भी बड़ी
आवश्यकता है। केवल जल-स्नान से आत्मा की शुद्धि मानने
वाले लोग भ्रम में हैं। मन का मैल उतारे विना न तो शुद्धि
हो सकती है और न मुक्ति मिल सकती है। इसीलिए कहा
जाता है कि पानी से मैल उतारने मात्र से कुछ न होगा,
मन का मैल उतारो।

गांधारी ने अपनी सखियों से कहा था—केवल जल से
मैल उतार लेने से कुछ नहीं होगा, मन के राग–द्वेष रूपी
मैल को साफ करो।

※ पूरा गीत पहले आ चुका है।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या गृहस्थ भी राग-द्वेष को जीत सकता है ? यह तो साधुओं का काम है। गृहस्थ तो खुला है । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि राग-द्वेष को जीते बिना शुद्ध दृष्टि (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति नहीं हो सकती । अनन्तानुबंधी चौकड़ी को जीतने पर ही सम्यग्-दृष्टि प्राप्त होती है ।

गांधारी ने अपनी सखियों से कहा—सखियो, स्त्रियों में राग–द्वेष के कारण ही आपस में झगड़े होते हैं । जो स्त्रियां राग-द्वेष से भरी हैं, वे अपने बेटे को तो बेटा मानती हैं पर देवरानी के बेटे को बेटा नहीं समझतीं । उनमें इतना क्षुद्रतापूर्ण पक्षपात होता है कि अपने बेटे को तो दूध के उपर की मलाई खिलाती हैं और देवरानी या जेठानी के लड़के को नीचे का सारहीन दूध देती हैं । जो स्त्री इस प्रकार राग–द्वेष के मल से भरी है, वह सुख–चैन कैसे पा सकती है? राग–द्वेष को हटाकर मन वचन की शुद्धता में स्नान करना ही सच्ची शूचि है ।

जो स्त्री ऊपर के कपड़े तो पहने है मगर जिसने आत्मा की सम्यग्दृष्टि रूपी वस्त्रों को उतार फेंका हैं, वह ऊपरी वस्त्रों के होते हुए भी नंगी-सी ही है। जिसके ऊपर विद्या रूपी वस्त्र नहीं हैं, उसकी शोभा सुन्दर वस्त्रों से भी नहीं हो सकती । कृत-अकृत्य के ज्ञान को विद्या कहते हैं और मेरे लिए यह विद्या ही सिंगार है । अविद्या के साथ उत्तम वस्त्र तो और भी ज्यादा हानिकारक होते हैं ।

किसी स्त्री का पति परदेश में था । उसने अपनी पत्नी

को पत्र भेजा। पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं थी। वह किसी से पत्र पढ़वाने का विचार कर ही रही थी कि बढ़िया वस्त्रों से सुसज्जित एक महाशय उधर होकर निकले। स्त्री पत्र लेकर उसके पास पहुंची। वह पढ़ा लिखा नहीं था, साथ ही मूर्ख भी था। वह सोचने लगा—पत्र क्या खाक पढ़ूं! मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। उसे अपनी दशा पर इतना दुःख हुआ कि उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। स्त्री ने सोचा—पत्र पढ़ कर ही यह रो रहा है। जान पड़ता है, मेरा सुहाग लुट गया। यह सोचकर वह स्त्री भी रोने लगी। स्त्री का रोना सुनकर पड़ौस की स्त्रियां भी आ पहुंची और वे सभी अपनी समवेदना प्रकट करने के लिए स्वर से स्वर मिलाने लगीं। कुहराम मच गया।

पड़ौस के कुछ पुरुष भी आये। उन्होंने पूछा—क्या बात हुई? अभी तो पत्र आया था कि मजे में हैं और अचानक क्या हो गया? क्या कोई पत्र आया है? पत्र उन्हें दिखलाया गया? पत्र में लिखा था—हम मजे में हैं और इन दिनों चार पैसे कमाये हैं। जब पड़ौसियों ने यह समाचार बतलाया तो घरवालों का रोना बन्द हुआ।

अब विचारने की बात यह है कि विद्या के बिना उत्तम वस्त्रों को धारण कर लेने का क्या परिणाम आता है? एक आदमी की अविद्या के प्रताप से ही स्त्री को रोना पड़ा और जलील होना पड़ा।

गांधारी की सखी कहती है—हमारी सखी ने कहा था कि—

केश संवारहु मेल परस्पर न्याय की मांग निकार।
धीरज रूपी महावर धारहु यश की टीका लिलार॥

स्त्रियां स्नान करके केश संवारती हैं। मैं सिंगार के लिए केश नहीं रखती। मेरे केश सुहाग के लिए हैं। मस्तक के केश संवार कर रह जाना ही ठीक नहीं है किन्तु परस्पर में मेल रखना ही सच्चा केश संवारना है। देवरानी-जेठानी से या ननन्द-भौजाई से लड़ाई-झगड़ा करके केश संवार ने का क्या महत्त्व है? केश संवार कर लड़ाई में चिपट जाने वाली स्त्रियां चुड़ैल कहलाती हैं। वास्तव में परस्पर मेल-मिलाप से ही रहना ही केश संवारना है।

गांधारी ने सखियों से कहा था—आपस के मेल रूपी केश संवार कर न्याय की मांग निकालो। अर्थात् परस्पर मेल होने पर भी अन्याय की बात मत कहो। न्याय की बात कहो। न किसी का हक छीनो, न खाओ। हो सके तो अपना हक छोड़ दो। इतना नहीं बन सकता तो कम से कम दूसरे का हक हजम मत करो। जो स्त्रियाँ ऐसा करती हैं, समझना चाहिए कि उन्हीं की मांग निकली हुई है। ऐसी देवियों को देवता भी नमस्कार करते हैं।

स्त्रियां पैरों में महावर लगाती हैं। गांधारी कहती है—हृदय में धैर्य रूपी महावर लगाओ। इसी प्रकार ललाट पर यश का तिलक लगाओ। कम से कम ऐसा कोई काम मत करो जिससे लोक में अपयश होता हो। इस लोक और परलोक में निन्दा कराने वाला कार्य न करना ही स्त्रियों का सच्चा तिलक है।

क्षण न व्यर्थ ऐसा तिल धारो मिस्सी पर उपकार।
लाज रूपी कजल नयनन में ज्ञान अरगजाचार ॥

स्त्रियां अपना सिंगार पूरा करने के लिए गाल पर कस्तूरी या काजल की एक बिन्दी लगाती हैं। वह तिल कहलाता है। किन्तु वास्तव में अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देना ही सच्चा तिल लगाना है। गन्दे विचारों में समय जाने से ही अनेक हानियां होती हैं। मैं अपना प्रत्येक क्षण परमात्मा में लगाती हूं। यही मेरा तिल–सिंगार है।

गांधारी देवी का कहना है—परोपकार की मिस्सी लगाओ। केवल दांत काले कर लेने से क्या लाभ है? एक स्त्री अपनी मिस्सी की शोभा दिखलाने के लिए हंसती रहती है और दूसरी हंसती नहीं है किन्तु परोपकार में लगी रहती है। इन दोनों में से परोपकार करने वाली ही अच्छी समझी जायगी। निठल्ली बैठी दांत निकाला करती है, उसे कोई भली नहीं कहेगा, चाहे मिस्सी कितनी ही बढ़िया क्यों न लगी हो! वास्तव में परोपकार की मिस्सी लगाना ही सच्चा सिंगार है।

पतिव्रता के काजल में भी शक्ति होती है। शिशुपाल ने अपनी भौजाई से कहा था—मैं बनड़ा बना हूं भाभी, मेरी आंखों में काजल आंज दो उसकी भौजाई ने कहा—रुक्मिणी को व्याहने का तुम्हें अधिकार नहीं है, क्योंकि वह तुम्हें चाहती नहीं है। जो चाहती ही नहीं, उसे व्याहने का अधिकार पुरुष को नहीं है। ऐसी हालत में मैं तुम्हें काजल नहीं दूंगी। मैंने काजल आंज दिया और तुम वहां से कोरे

आ गये तो मेरे काजल का अपमान होगा ।

गांधारी ने अपनी सखियों से कहा था—अरगजा अर्थात् सौन्दर्य बढ़ाने वाला सुगंधित द्रव्य, जिसे स्त्रियां लगाती है, ज्ञान का होना चाहिए । अर्थात् किस अवसर पर क्या करना चाहिए, इसका ज्ञान होना ही सच्चा अरगजा-लेपन है । इस प्रकार का सिंगार करके शम, दम संतोष के आभूषण पहनना चाहिए और अपने घर पर आये हुए का अपमान न होने देना ही मेंहदी लगाना होना चाहिए ।

सुना है, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जन्मगांठ के अवसर पर कलेक्टर आदि प्रतिष्ठित अतिथि उनके घर आये हुए थे । विद्यासागर की माता के हाथ में चांदी के कड़े थे । माता जब उन अतिथियों के सामने आई तो उन्होंने कहा—विद्यासागर की माता के हाथ में चांदी के कड़े शोभा नहीं देते । माता ने उत्तर दिया—अगर मैं सोने के कड़े पहनती तो अपने पुत्र को विद्यासागर नहीं बना सकती थी । हाथों की शोभा सोने के कड़े से नहीं, दान देने से बढ़ती है । कहा भी है—

दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।

अर्थात्-हाथ की शोभा दान से है, कंकण पहनने से नहीं ।

यही बात गांधारी ने भी कही थी कि हाथों की शोभा मेंहदी लगाने से नहीं होती, बल्कि घर पर आए हुए गरीबों को निराश और अपमानित न करके उन्हें दान देने से होती है।

गांधारी की सखी कहती है 'हमारी सखी (गांधारी) का कहना है कि शुभ विचारों की फूलमाला धारण करनी

चाहिए, वनस्पति के फूलों की माला पहनना तो प्रकृति की शोभा को नष्ट करना है। इसी प्रकार मुख में पान का बीड़ा दबा लेने से स्त्री की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती। प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए स्त्री को विनय सीखना चाहिए।'

भारत की स्त्रियों में विनय की जैसी मात्रा पाई जाती है, अन्य देशों में नहीं है। युरोप की स्त्रियों में कितनी विनय-शीलता है, यह बात तो उस फोटो को देखने से मालूम हो जायगी, जिसमें रानी मेरी कुर्सी पर डटी हैं और बादशाह जार्ज उनके पास नौकर की भांति खड़े हैं! भारत की स्त्रियों में इतनी अशिष्टता शायद ही मिले। (युरोप की सभ्यता का अन्धानुकरण करने वाली भारतीय नारी में भी अब यह शिष्टता (!) आ चली है—सं०)।

गांधारी कहती है—'इस सब सिंगार पर सत्संगति का इत्र लगाना चाहिए। कुसंगति से यह सब पूर्वोक्त सिंगार भी दूषित हो जाता है। कैकेयी भरत की माता होने पर भी मंथरा की संगति के कारण बुरी कहलाई।'

अन्त में गांधारी ने कहा था—मुझे नेत्रहीन पति मिलेंगे तो मैं बाह्य सिंगार न करके यही भाव-सिंगार करूंगी। हमारी सखी ऐसा ही कर रही हैं। जो स्त्रियां ऐसा करती हैं, वे इस लोक को भी सुधारती हैं और परलोक को भी।

अन्त में गांधारी ने कहा—चलो रहने भी दो। व्यर्थ मेरी प्रशंसा के गीत मत गाओ। मुझमें कितनी त्रुटियां हैं, मैं ही जानती हूं। मेरी कामना यही है कि तुम सब ने जिन शब्दों में मेरी प्रशंसा की है, मैं उस प्रशंसा के योग्य बन सकूं।

अन्त में सब उठ खड़ी हुई और अपने-अपने महल में चली गईं।

३ : पाण्डव--कौरव--जन्म

भारतवर्ष के साहित्य में पाण्डव-चरित या महाभारत की कथा का स्थान बहुत ऊंचा है। यह सुदूर अतीत काल की कथा है, फिर भी जनसाधारण में इतनी अधिक प्रिय है कि इसे पढ़ते-पढ़ते और सुनते-सुनते पाठक और श्रोता थकते नहीं। अतएव यह कथा प्रत्येक युग में नूतन ही रहेगी। मगर हमारा उद्देश्य कथा सुनाना नहीं है, हम महाभारत के परिचित पात्रों का उपयोग करके यह दिखला देना चाहते हैं कि देवी प्रकृति कैसी और आसुरी प्रकृति कैसी होती है? दोनों में क्या अन्तर है? इसी कारण हमने महाभारत की अनेक घटनाओं को छोड़ दिया है और उपयोगी घटनाओं पर ही प्रकाश डाला है।

पहले ही कहा जा चुका है कि धर्म सूक्ष्म है। उसे अपनी ही बुद्धि से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। लोग ईश्वरीय शक्ति को भी अपनी बुद्धि से जानना चाहते हैं। इसी प्रकार यह भी देखने लगते हैं कि मैंने यह भला काम किया परन्तु इसका परिणाम बुरा क्यों निकला? उन्हें समझना चाहिए कि धर्म का तत्त्व अत्यन्त गहन है और मनुष्य की

साधारण बुद्धि बहुत स्थूल होती है । धर्म का रहस्य कितना सूक्ष्म है, यह बात कुन्ती और गांधारी की सन्तान के अंतर को देखने से प्रतीत हो सकता है । कुन्ती गांधारी को अधिक धर्म वाली बतलाती थी, परन्तु आगे चल कर वास्तविकता इसके विरुद्ध जान पड़ी !

कुन्ती और गांधारी—दोनों गर्भवती हुईं । गर्भवती होने पर कुन्ती की भावना धर्ममयी हो गई । खाते-पीते, उठते-बैठते, प्रत्येक समय धर्म में ही उसकी भावना रहती थी । उसका विचार धर्म पर इतना दृढ़ हो गया कि चाहे प्राण चले जाएं पर धर्म न जाय । इस सद्भावना की उत्पत्ति में केवल कुन्ती का ही प्रताप नहीं कहा जा सकता वरन् गर्भ के बालक का भी प्रताप था । वह बालक धर्म-प्रकृति का था, अतएव उसके गर्भ में आने पर माता की भावना भी धर्ममयी हो गई ।

जैसे माता का प्रभाव बालक पर पड़ता है, उसी प्रकार गर्भस्थ बालक का प्रभाव माता पर भी अवश्य पड़ता है । गर्भ के अनुसार माता की भावना अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है । रानी चेलना स्वयं धर्मशीला थी किन्तु जब कोणिक उसके गर्भ से आया तो उसे अपने पति श्रेणिक का मांस खाने की साध हुई । इसमें दोष चेलना का नहीं था । यह तो गर्भ का ही दुष्प्रभाव था ।

कुन्ती के मन में धर्म की भावना हो रही थी किन्तु गर्भवती गांधारी के मन में कुटुम्ब का कलेजा खाने की इच्छा हुई । कुन्ती अपने कुल के कल्याण की कामना करती, जब कि गांधारी के मन में कुल के प्रति अकल्याण का विचार

उत्पन्न होता था। रात्रि में गांधारी को भांति-भांति के दु-स्वप्न भी आया करते। जब गांधारी कभी-कभी अपनी निज की प्रकृति में आती, तब उसे अपनी दुर्भावनाओं के लिए पश्चात्ताप होता। वह सोचती इस गर्भ के कारण ही मेरा मन मलिन रहता है, ऐसा जान पड़ता है।

इधर कुन्ती की धर्मभावना दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। जिसे पहले वह शत्रु मानती थी, उसे भी उसने अपना मित्र बना लिया। कुन्ती अपनी उज्ज्वल भावनाओं के लिए हर्षित होती और मानती कि गर्भ के प्रताप से ही मेरे अन्तःकरण में ये धर्मभावनाए उत्पन्न हुई हैं।

यथासमय कुन्ती के गर्भ से एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ। यह वही बालक था जो बाद में धर्मराज युधिष्ठिर के रूप में जगत् में प्रसिद्ध हुआ। जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। हस्तिनापुर ने आनन्द अनुभव किया।

कुन्ती के पुत्र उत्पन्न होने का समाचार गांधारी ने भी सुना। बुरे गर्भ के प्रताप से उसका मन मैला हो गया। उसने सोचा—पहले मैं गर्भवती हुई थी लेकिन मेरे लड़का नहीं हुआ। कुन्ती पीछे गर्भवती हुई और पहले उसने लड़का जन लिया। मेरे गर्भ में न मालूम कैसे दुष्ट जीव ने प्रवेश किया है! यह कह कर गांधारी ने अपना पेट दोनों हाथों से पीट लिया और गर्भ गिर गया। जैसे ही गांधारी के गर्भ का बालक बाहर आया कि अकाल में ही सियार बोलने लगे। अनेक प्रकार के अपशकुन हुए।

गांधारी ने विदुर को बुला कर कहा—यह बालक

जब से गर्भ में आया, तभी से मेरे चित्त में अनेक दुर्भावनाएं उत्पन्न हुई हैं और इसके जन्मते ही अनेक अपशकुन हुए हैं। गांधारी ने अपनी समस्त दुर्भावनाओं का ब्यौरा विदुर को बतला दिया।

विदुर ने थोड़ी देर विचार करके कहा—यह दुरात्मा है। समस्त कुल की रक्षा के लिए इसका परित्याग कर देना ही उचित है, अन्यथा यह कुल का नाश कर डालेगा।

दुष्ट गर्भ के गिर जाने से गाँधारी की भावना शुद्ध हो गई थी। उसने विदुर के विचार का समर्थन करते हुए कहा—हां, व्यक्ति से कुल का मूल्य अधिक है। कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग कर देना बुरा नहीं है।

मगर धृतराष्ट्र बीच में आ कूदे। उन्होंने कहा-सिर्फ संदेह के आधार पर सन्तान का परित्याग नहीं किया जा सकता। कुल के नाश की बातें करना निरर्थक है। मैं अपने पुत्र का कदापि त्याग नहीं कर सकता।

धृतराष्ट्र की आज्ञा से लड़का सुरक्षित रखा गया। यह वही बालक है जिसे दुर्योधन के नाम से संसार जानता है और जो अन्त में न केवल कौरवकुल के बल्कि भारत के पतन का कारण हुआ।

इस प्रकार युधिष्ठिर और दुर्योधन—दोनों का जन्म हुआ। युधिष्ठिर के जन्म से सर्वत्र आनन्द हो रहा था और प्रकृति में भी अपूर्व जागृति हुई थी।

विज्ञ वैज्ञानिकों का कथन है कि आत्मा का प्रभाव जड़

प्रकृति पर भी पड़ता है । (सीता के सामने अग्नि भी शीतल हो गई थी और मीरां के सामने विष भी अमृत बन गया था । ऐसा होना सहज बात नहीं है परन्तु आत्मा का प्रभाव भी कम नहीं है । आत्मा का अलौकिक प्रभाव जड़ वस्तु के प्रभाव को बदल सकता है । अरविन्द घोष ने गीता पर एक भाष्य लिखा है । एक सज्जन ने उस भाष्य की एक बात कही थी, जिसका आशय यह था कि जो पुरुष विकारहीन हो गया है और जो पूरी तरह धर्म में निष्ठ है, उसे सताने के लिए अगर कोई तैयार होता है तो जड़ और चैतन्य—सभी उस विकारहीन पुरुष की सहायता करते हैं और इस प्रकार उस पर आये संकट के बादल नष्ट हो जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा पुरुष की सहायता के लिए जड़ प्रकृति भी तत्पर रहती है, अतः हर समय धर्म का ध्यान रखना चाहिए । यह समझना भूल है कि इसके पास कौन-सी शक्ति है ! सताने पर यह क्या कर सकता है ? धर्मात्मा में ऐसी शक्ति होती है कि उसके आगे देवेन्द्र और नरेन्द्र की शक्ति भी तुच्छ है ।

युधिष्ठिर में धर्म की शक्ति है और दूसरी तरफ दुर्योधन के रूप में पाप और असत्य की शक्ति भी जनमी है । आकाश एक है पर उसमें प्रकाश भी रहता है और अंधकार भी रहता है वल्कि प्रकाश की कीमत भी अंधकार की वदौलत ही है । संसार में रहेंगे तो दोनों ही, प्रकाश भी और अंधकार भी दिन भी और रात भी, लेकिन विचारणीय यह है कि हमें किसका पक्ष लेना चाहिए ? अंधेरा तो शुक्ल पक्ष में भी रहता है और कृष्ण पक्ष में भी रहता है, परन्तु अंधेरा है

कृष्ण पक्ष का ही। शुक्ल पक्ष ने तो अंधेरे को धीरे-धीरे हटाया है और अन्त में पूर्णिमा के दिन बिलकुल ही नष्ट कर दिया हैं। मगर कृष्ण पक्ष के आते ही फिर अंधेरा बढ़ने लगता है। यद्यपि कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रकाश अधिक और अंधकार कम रहता है और शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन प्रकाश कम और अंधेरा अधिक होता है, फिर भी कम प्रकाश के कारण शुक्ल पक्ष की द्वितीया कृष्ण पक्ष में नहीं गिनी जाती और न अधिक प्रकाश के कारण कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा शुक्ल पक्ष में ही मानी जाती है। इसका कारण यही है कि शुक्ल पक्ष प्रकाश को बढ़ाने वाला है और कृष्ण पक्ष अंधकार को बढ़ाने वाला है।

यही बात धर्म और पाप के विषय में भी समझी जा सकती है। पाप का बढ़ना कृष्ण पक्ष है और धर्म का बढ़ना शुक्ल पक्ष है। इस शुक्ल पक्ष में प्रकाश चाहे थोड़ा हो पर उसके बढ़ने की आशा है, अतएव पक्ष तो शुक्ल पक्ष रूप धर्म का ही लेना चाहिए।

युधिष्ठिर और दुर्योधन में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष जैसा अन्तर है। इसलिए युधिष्ठिर के जन्मने पर प्रकृति ने भी आनन्द मनाया और दुर्योधन के जन्मने पर अकाल में ही सियार और कौवे बोलने लगे।

युधिष्ठिर के पश्चात् कुन्ती एवं माद्री ने यथासमय चार पुत्रों को जन्म दिया। दुर्योधन के बाद गांधारी के पेट से निन्यानवे पुत्र उत्पन्न हुए। एक दुश्ल्या नाम की कन्या भी हुई, जो समय पर जयद्रथ के साथ विवाही गई। पाण्डु के पांच पुत्र पाण्डव कहलाए और धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कौरव कहलाए।

४ : वैर का बीज

पाण्डव और कौरव मिलकर एक सौ पांच भाई हुए। यह सब साथ–साथ बालक्रीड़ा करने लगे। यों तो जल में कमल भी बढ़ता है और मेंढ़क भी, किन्तु बढ़ते है अपनी–अपनी दिशा में। इसी प्रकार खेल–कूद के समय भी पाण्डवो का तेज ऐसा फैला कि सभी लोग उनकी प्रशंसा करने लगे। लोग अचरज करने लगे कि एक ही कुल में जन्म लेने पर भी और एक–से वातावरण में सांस लेने पर भी इनमें इतना अन्तर क्यों है ? पाण्डव बुद्धि, बल और विवेक में दिन प्रतिदिन बढ़ने लगे लेकिन कौरव इस वृद्धि में उनकी समानता न कर सके।

ऐसे तो सभी राजकुमार बलवान् थे किन्तु भीम इन सब में असाधारण था। वह बहुत ही बलवान् था। भीम में कोई दुर्भावना नहीं थी, किन्तु कौरवों का बल बढ़ाने और उन्हें निर्भय बनाने के लिए वह कभी किसी कौरव को पछाड़ देता, तैरना सिखाने के लिए कभी किसी को पानी में फैंक देता और कभी कुछ और करता। कौरवों को भीम का यह व्यवहार बहुत बुरा लगता। वे सोचते–भीम बड़ा दुष्ट है।

वह सबको बुरी तरह सताता है । धीरे-धीरे दुर्योधन के मन में भीम के प्रति दुर्भाव बढ़ता गया । फिर भी भीम अपनी चाल चलता रहा । जब किसी पेड़ पर चढ़ने का खेल खेलते तब भीम पेड़ को पकड़ कर ऐसे जोर से हिला देता कि कौरव पक्के आम की तरह नीचे टपक पड़ते । कभी वह उन्हें कुश्ती में पछाड़ देता । इस प्रकार सभी खेलों में भीम की ही विजय होती थी । खेल में हार जाने पर बालकों में उत्ते-जना पैदा होती है, पर यहां तो नित्य हार थी । भीम हमेशा जीतता । सदैव की इस पराजय ने दुर्योधन के मन में भीम के प्रति वैर के बीज बो दिये । धीरे-धीरे उसके सभी भाई भीम को अपना विरोधी समझने लगे ।

जैसे सद्गुण बिना सिखाये सहज स्वभाव से भी किसी में आ जाते हैं, उसी प्रकार दुर्गुण भी बिना सिखाये आ जाते हैं । अपने सहज दुर्गुणों के कारण दुर्योधन, भीम को बुरा-भला कहने लगा । दुर्योधन का यह दुर्गुण भीम के हक में एक प्रकार से लाभदायक ही सिद्ध हुआ । इससे भीम को एक विशेष अवसर मिला । दुर्योधन के साथ भीम की टक्कर न हुई होती तो भीम को जो मौका मिला, शायद न मिलता ।

दुर्योधन अपने भाइयों से कहता—देखा भीम को, वह कैसा दुष्ट है ! दुर्योधन के भाई भी 'भीम ने हमें मारा, हमें हैरान किया' आदि कहने लगे । दुर्योधन के भाइयों पर उसके कुविचारों का असर खूब पड़ा । अब वे भीम की सद्भावना को दुर्भावना के रूप में ग्रहण करते, उसके प्रत्येक अच्छे कार्य को बुरी निगाह से देखते, राई को पर्वत बनाते और कभी-कभी झूठी ही शिकायत करने लगते । दुर्योधन ने

इस अवसर का लाभ उठाने की सोची ।

एक दिन दुर्योधन ने अपने भाइयों को इकट्ठा किया। वह उनसे कहने लगा—हम सब में युधिष्ठिर बड़ा है, इस कारण वही राजा होगा । जब युधिष्ठर राजा होगा, तब हम सबको उसका सेवक बनना पड़ेगा । उस समय भीम हम लोगों को कितना दुःख देगा, इस बात का विचार करके हमें अभी से सविधान हो जाना चाहिए । युधिष्ठिर भला आदमी है । उसे मारना तो ठीक नहीं है, परन्तु इन पांचों में बड़ी घनी प्रीति है । इतनी घनी कि इनमें से एक मरने पर बाकी के शायद ही जीवित रह सकें । इसलिए भीम को मार डालने का कोई उपाय करना चाहिए ।

दुर्योधन के भाई अपने भाई की चतुराई से बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसके विचार का समर्थन करते हुए पूछा—भीम को मारने का क्या उपाय है ? दुर्योधन ने कहा—इसकी चिन्ता तुम मत करो । तुम तो मेरे साथ रहो । मैं आप ही सब समझ लूंगा ।

दुर्योधन के भाइयों को उसकी चतुराई पर भरोसा था । उन्होंने कह दिया—अच्छी बात हैं, हम सब आपके साथ हैं ही । आप जो उचित समझें, उपाय करें ।

दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ । वह सोचने लगा—भीम ने इन सबको पीट कर और परेशान करके अच्छा ही किया, नहीं तो ये सब मेरे साथ सहमत न होते । मुझे सब भाइयों की सहायता प्राप्त है तो भीम को मार डालना कुछ कठिन न होगा ।

कौरव और उनमें भी खास तौर से दुर्योधन भीम को अपने मार्ग का कांटा समझने लगा। उसके दिल में एक बात यह भी चुभती थी कि युधिष्ठिर राजा होंगे तो क्या हम इनके गुलाम बनकर रहेंगे ? हमें युधिष्टिर की सत्ता के नीचे रहना होगा ! इस दुर्भावना से प्रेरित होकर उसने अपने भाइयों को खूब उभारा और उन्हें अपने विचारों का अनुयायी वना लिया। दुर्जन अच्छाई में भी बुराई ही देखता। दुर्योधन को भीम का अच्छे से अच्छा कार्य भी बुरा दिखाई देता था और वह उसमें भीम की दुर्भावना की कल्पना करता था।

परन्तु देखना यह चाहिए कि दुर्योधन में यह दुर्बुद्धि क्यों आई ? आप सिर्फ पाण्डव-कौरवों की भलाई-बुराई सुनने नहीं बैठे हैं। आपका उद्देश्य बुरे की बुराई सुनकर अपनी बुराई की खोज करना और उसे हटा देना होना चाहिए। अतएव दुर्योधन की कथा सुनकर अपनी बुराई त्यागो और पाप से बचो। दुर्योधन की बात सुनकर उसकी बुराई कर देने से आपका तनिक भी कल्याण नहीं होगा। आपका कल्याण तो तभी होगा जब आप स्वयं नाजुक प्रसंग उपस्थित होने पर भी दुर्योधन के मार्ग पर नहीं चलेंगे। जिनमें दुर्जनता होती है, वे सज्जनों को कष्ट देने का प्रयत्न करते हैं मगर सज्जन अपनी सज्जनता नहीं त्यागते। एक कवि ने कहा हैं—

इसमें अचरज की बात नहीं दुर्जन ऐसे ही होते हैं,
गैरों की बढ़ती को सुनकर दिन-रात हृदय में जलते हैं।
चाहते यही सब लोगों से हम ही जग में आदर पावें,
धनवान् गुणी ज्ञानी नर को छल द्वारा नीचा दिखलावें।

परमार्थ आदि शुभ कामों से वे रहते दूर दुराचारी,
छल–कपट आदि के करने में दिखलाते हैं श्रद्धा भारी।
कहते हैं मीठे मधुर वचन पर हृदय पापमय पहचानो,
मद राग द्वेष निर्दयता के इनको सच्चे पुतले मानो।
दुष्टों का परम धर्म है वह दिन रात गैर से बैर करे,
जो करे भलाई उनके संग उनके ही सिर हथियार धरे :

अस्तु विधाता दे नहीं इन लोगों का संग,
पल भर भी सुख ना मिले, होय रंग में भंग।

कवि ने दुर्जनों का यह चित्र खींचा है। इस चित्र को देखकर यही विचारना चाहिए कि हमारी आत्मा में कभी दुर्जनता न आने पावे। कदाचित् दुर्जनता आ गई हो तो यह चित्र देखकर मिटाना चाहिए।

कवि ने कहा है कि दुर्जन दूसरों की बढ़ती नहीं देख सकते। तुलसीदासजी कहते हैं—

उजड़े हर्ष, विषाद बसेरे।

अर्थात् दूसरों का उजाड़ देखकर दुर्जन को हर्ष होता है और दूसरों के बसने से वे दुःखी होते हैं। उनकी इच्छा यही होती है कि संसार में हम ही रहें, हमारा ही पसारा हो, हमारी ही प्रतिष्ठा हो और हमीं माने जाएं। उन्हें यह विचार नहीं होता कि मैं स्वयं बढ़ना चाहता हूं, यह तो ठीक है, पर दूसरे बढ़ रहे हैं तो उनसे द्वेष क्यों करें? दुर्जन अकारण ही गुणवान् एवं ज्ञानवान् से द्वेष करते हैं।

द्वेषी लोग किस अच्छी वस्तु से द्वेष नहीं करते ? अच्छाई मात्र के प्रति उनके मन में मैल पैदा हो जाता है। विद्वानों से भी उनका द्वेष होता है और साधुओं के लिए भी वे कहते हैं—

नारि मुई घर-संपति नासी,
मूंड मुंडाय भये संन्यासी।

इस प्रकार वे जिस किसी में कोई विशेष गुण देखते हैं, उसी से और उसके उस सद्गुण के कारण ही द्वेष करने लगते हैं। उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। कभी कोई उनसे परमार्थ करने को कहता भी है तो उनका उत्तर होता है—'परमार्थ करना आपका काम है। यह कलियुग है—भलाई का जमाना नहीं है।' इस प्रकार वे भलाई की ही बुराई करने लगते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आजकल बुराई करने वालों की बढ़ती देखी जाती है और सत्य का पालन करने वाले लोग पिछड़े हुए हैं, तो क्या सत्य में कुछ प्रभाव नहीं रहा ? सत्य क्या निर्बल हो गया है ? वास्तव में इस प्रकार का प्रश्न होना ही बुरा है। जिस समय सब लोग असत्य का आचरण करने लगते हैं, उस समय भी सत्य का आचरण करने वाला आनन्द में ही रहता है। जब संसार से सत्य का नाश हो रहा हो, तब भी सत्य के पुजारी को आनन्द क्यों होता है ? उसे दुःख क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्हें भलीभांति मालूम होता है कि सत्य की परीक्षा के लिए ऐसा ही अवसर उपयुक्त सिद्ध होता है। जब यादव

लोग आपस में मूसल मार-मार कर लड़ मर रहे थे, तब श्रीकृष्ण हंस रहे थे। किसी ने पूछा—आपका परिवार मर रहा है और आप हंस रहे हैं, इसका क्या कारण है? कृष्ण ने कहा—यह हंसने का ही समय है। मैंने इन्हें समझा दिया था कि मदिरापान, द्यूत और परस्त्री-गमन से बचो। मैंने इनके सेवन से होने वाली हानियां भी इन्हें समझा दी थीं। मैंने कुछ छिपा नहीं रखा था। फिर भी इन कम्बक्तों ने मेरी बात सुनी अनसुनी कर दी। इस कारण इनमें आपस में फट हुई और उसी फूट के कारण आज इनके सिर फूट रहे हैं।

सारांश यह है कि दूसरों की बुराई देखने में हमारी भलाई नहीं है। हमें ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए कि दूसरे भलाई नहीं करते तो हम भी क्यों करे? हजार कौवों के बीच में रहा हुआ हंस अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। वह कौओं का अनुकरण नहीं करता। इसी प्रकार समय कैसा भो हो, सज्जन सज्जन ही रहेंगे और दुर्जन दुर्जन ही रहेंगे। पाण्डव सज्जन थे, फिर भी उन्हें कष्ट सहने पड़े और कौरव दुर्जन थे, फिर भी वे राज्य भोगते रहे, यह देखकर दुर्जनता की बड़ाई मत करो। आज आपके हृदय में पाण्डवों के प्रति कैसे भाव हैं और क्यों हैं? पाण्डवों की सज्जनता के कारण ही तो! अगर दुर्जनता बड़ी होती तो कौरवों की प्रशंसा क्यों न होती? इतना लम्बा समय बोत जाने पर भी क्या कोई दुर्योधन की प्रशंसा करता है? राम और रावण में से दोनों की तुलना में क्या कोई रावण को श्रेष्ठ कह सकता है? इसलिए दूसरों की हंसी न करके अपनी बुराइयों को निकाल फैंको और यह सोचो कि दुर्जन अगर दुर्जनता

नहीं छोड़ता तो मैं अपनी सज्जनता कैसे छोड़ दूं ?

दुर्योधन ने अपने सब भाइयों में दुर्जनता भर दी। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों से कह दिया कि दुर्योधन की बुद्धि अच्छी नहीं है, इसलिए उससे सावधान रहो और हे भीम यद्यपि तेरी बुद्धि खराब नहीं है, परन्तु ऐसा खेल भी मत खेल जिससे उन लोगों को बुरा लगे। भीम ने कहा मैं तो उनकी भलाई ही चाहता था। उन्हें ठोक–पीट कर ताकतवर बनाता हूं और उत्थान की ओर ले जाता हूं। इसके उत्तर में युधिष्ठिर कहने लगे— वे ताकतवर नहीं बनना चाहते तो जबर्दस्ती की क्या जरूरत है ? इसलिए तू ठोका–पीटा मत कर।

दुर्योधन और युधिष्ठिर अपने-अपने भाइयों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उपदेश देते रहते थे। एक दिन दुर्योधन ने अपने भाइयों से कहा—शत्रुओं का बल बढ़ता जाता है। यही हाल रहा तो फिर उनकी जड़ उखाड़ना कठिन हो जायगा। भीम के बढ़ते हुए बल को तत्काल न रोक दिया गया तो फिर वह न रुक सकेगा।

दुर्योधन के भाई कहने लगे—जो आपकी राय हो, वही किया जाय। अगर आप उचित समझें तो खेल ही खेल में सब उस पर टूट पड़ें और उसे मार डालें।

दुर्योधन—नहीं, उसे इस तरह नहीं मार सकते। ऐसा करने से तो वही हम में से कइयों का कचूमर निकाल डालेगा। वह आदमी थोड़े ही है, साक्षात् राक्षस है। ऐसा कोई उपाय खोज निकालना चाहिए कि कांटा भी दूर हो

जाय ओर हम लोग वेदाग भी बचे रहें ।

दुर्योधन की यह कूटनीति सब ने स्वीकार की । दुर्योधन कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ने लगा । आखिर उसकी कुशाग्र बुद्धि में एक उपाय सूझ पड़ा ।

एक दिन दुर्योधन युधिष्ठिर के पास गया । उसने बड़ी नम्रता के साथ हाथ जोड़े । उसने ऊपर से नम्रता प्रकट की मगर वह नम्र नहीं था । उस पर यह उक्ति चरितार्थ होती थी—

होइ निरामिष कबहुँ न कागा ।

दुर्योधन ने कहा—मेरा विचार आज यमुना के किनारे प्रीतिभोज करने का है । कृपया आप उसमें सम्मिलित होने की स्वीकृति दीजिए ।

युधिष्ठिर ने स्वीकृति दे दी ।

दुर्योधन ने यमुना के तट पर एक मण्डप बनवाया और अनेक प्रकार के भोजन तैयार करवाने की व्यवस्था की । उन्हीं भोज्य पदार्थों में से एक में मीठा विष मिलाने की साजिश की गई । वह विष खाते समय तो मीठा लगता था पर उसका गुण मार डालने का था । पाण्डव और कौरव—सब भाई जब खेल-कूद कर निपट चुके तो दुर्योधन कपट भरा प्रेम दिखला कर अपने हाथ से सब को भोजन परोसने लगा । विष-मिश्रित भोजन का रंग-रूप और स्वाद निर्विष भोजन के समान ही था, अतएव दोनों का अन्तर मालूम नहीं होता था । कहना न होगा कि दुर्योधन ने भीम

को विषैला भोजन परोस दिया । भोला भीम निःशंक होकर उसे खा गया ।

जब लोग भोजन कर चुके तो दुर्योधन ने कहा—चलो, अब जरा जलक्रीड़ा भी कर लें। यह अवसर फिर नहीं मिलेगा।

ऊपर से वह आज विशेष रूप से प्रेम का दर्शन कर रहा था । उसे अपनी सफलता पर अपार हर्ष हो रहा था और वही हर्ष उसकी वाणी की मधुरता के रूप से प्रकट हो रहा था । वह मन में सोच रहा था—परमात्मा की मुझ पर अपार कृपा है । अब मैं अवश्य राजा बन जाऊंगा । मेरे मार्ग का सबसे भयानक कंटक आज समाप्त हो रहा है ।

कौरव और पाण्डव जलक्रीड़ा करने लगे । विष ने भीम पर अपना असर दिखलाया । वह बेहोश होकर गिर पड़ा । दुर्योधन भीम की ताक में ही था । उसने बेहोश भीम को खींचकर एक ओर डाल दिया । जब सब लोग चले गये तो शाम को उसने भीम के हाथ और पैर किसी बेल से बांध दिये और उसे यमुना में छोड़कर चल दिया ।

भीम को यमुना में फेंक कर दुर्योधन खूब प्रसन्न हुआ । सोचने लगा—भीम के न रहने से युधिष्ठिर आदि चिन्ता करके आप ही मर जाएंगे और कदाचित् न मरे तो शक्ति-हीन तो हो ही जाएंगे ।

सभी राजकुमार अपने-अपने घर पहुँच कर सो गए । किसी को भीम के रह जाने का खयाल न हुआ । युधिष्ठिर ने सोचा—भीम अपने ठिकाने जा पहुँचा होगा और दुर्योधन ने सोचा—भीम ठिकाने लग गया होगा । परन्तु—

अरक्षितस्तिष्ठति दैवरक्षितः,
सुरक्षितो दैवहतो विनश्यति ।
जीवत्यऽनाथोपि वने विसर्जितः,
कृतप्रयत्नेऽपि ग्रहे विनश्यति ।।

भाग्य जिसका रखवाला है, वह दूसरे रक्षक के बिना ही सुरक्षित रहता है और बड़े-बड़े रक्षक होने पर भी दैव का मारा मर जाता है । भीम भाग्यवान् था । जब भाग्य ही उसका रक्षक था तो उसे कौन मार सकता था ? एक दुर्योधन तो क्या, सौ दुर्योधन भी उसका बाल बांका नहीं कर सकते थे ।

पुराणों के अनुसार यमुना में फेंके हुए भीम को नागजाति के लोग उठा कर ले गए । पुराण में यह भी लिखा मिलता है कि भीम को जहरीले नागों ने काटा । 'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात् विष की दवाई विष है, इस कहावत के अनुसार नागों के विष से भीम के शरीर का विष मर गया । भीम को होश आ गया । होश में आते ही भीम ने अपने शरीर के बन्धन तोड़ फेंके । यह देखकर नाग भी भयभीत हो गए । उन्होंने अपने राजा के पास चलने को कहा । वह उनके साथ नाग-राज के पास पहुँचा ।

भीम को देखकर नागों के राजा ने कहा—यह पाण्डु-पुत्र है, इसे आदरपूर्वक रखो । राजा की आज्ञा से नाग भीम का आदर करने लगे और भीम आनन्द से रहने लगा ।

जड़ी-बूटी की दवा जितनी कारगर होती है, उतनी डाक्टरी दवा नहीं । मेरी कमर में, बचपन में एक फोड़ा हुआ था । उसके दर्द के मारे मैं धोती भी नहीं पहन सकता था । यह बात

मैंने एक भील से कही । उसने मुझे एक जड़ी बतलाई । मैंने वह जड़ी पीसकर तीन बार लगाई । तीन बार के लगाते ही मेरा रोग साफ हो गया । अगर मैंने डाक्टर का शरण लिया होता तो कौन जाने क्या परिणाम होता ? उस जड़ी ने रोग की जगह से लगभग एक-डेढ़ तोला छिलका उतार कर रोग की जड़ ही उखाड़ फैंकी । जड़ी की दवा ऐसी कारगर होती है ।

नागों ने दवा करके भीम के शरीर के घाव मिटा दिये । उन्होंने भीम को अमृतबल्ली का रस पिलाया, जिससे बलवान् भीम का बल हजार गुणा और बढ़ गया । दुर्योधन भीम को नष्ट करने चला था, लेकिन एक भीम हजार भीम सरीखा हो गया ।

उधर प्रातःकाल होने पर पाण्डव सोकर उठे । भीम को कहीं न देखकर उसकी खोज करने लगे । उन्होंने सोचा— भीम शायद माता के पास गया हो । यह सोचकर चारों भाई माता कुन्ती के पास गए । मगर भीम को साथ में न देखकर कुन्ती स्वयं पूछने लगीं—आज चार ही कैसे आये ? भीम कहां है ? पांच शरीरों में रहने वाले एक आत्मा की तरह तुम पांचों भाई साथ रहते हो, फिर आज भीम कहां है ?

युधिष्ठिर पशोपेश में पड़ गये । गहरी चिन्ता के साथ उन्होंने कहा—मां, भीम को खोजने के लिए हम यहां आए हैं । यह प्रश्न हम आपसे ही करने वाले थे कि भीम कहां है ? भीम आपके पास भी नहीं है, यह तो आश्चर्य की बात है ! कोई छल तो काम नहीं कर रहा है ?

भीम के लिए सब जगह कोलाहल मच गया। पाण्डवों ने कुन्ती के सामने विदुर को बुलवाया। विदुर आये। कुन्ती ने उनसे कहा—विदुरजी, आप परिवार के रक्षक हैं। पता लगाइए, भीम कहां है ? क्या कारण है कि आज भीम का कहीं पता नहीं है ?

विदुर विवेकवान्, सत्यवादी और न्यायप्रिय थे। उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा—भीम के लिए चिन्ता मत करो। चिन्ता करने से भीम नहीं आ सकता। सत्यशील होकर और चिन्ता छोड़कर परमात्मा का ध्यान करो। हम भीम की खोज करते हैं मगर तुम लोग चिन्ता न करो। परमात्मा का भजन करने से भला ही होगा—भीम जहां भी होगा, वहां कष्ट से मुक्त होगा।

विदुर की बात सुनकर कुन्ती एकान्त में जा बैठी और परमात्मा का ध्यान करने लगी। उसने प्रतिज्ञा कर ली—'जब तक मैं भीम को न देख लूंगी, तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।' कुन्ती पढ़ने लगी—

मना ! अब धीर धरो रे।
सुत-दुःख दारुण तोय जरावे, छिन-छिन याद करो रे।
नाम सुमर याही विधि तू मन, संकट सबहि हरो रे।
मना ! अब धीर धरो रे।

सुत-सुत करते सुत नहीं पावे, झूठ प्रलाप करो रे।
ज्ञान-विज्ञान विचारन दे मोहिं सुख उपजैहैं खरो रे।
मना ! अब धीर धरो रे।

'चंचलता तज निर्बल हो तू, आतम-बल में घरो रे।
सुत को शांति यही विधि पहुंचे, निश्चय कुन्ती करो रे।
मना ! अब धीर धरो रे।

कुन्ती परमात्मा का स्मरण करने बैठी। पुत्र की चिन्ता सब चिन्ताओं से बड़ी मानी जाती है। भीम जैसे पुत्र का एकाएक लापता हो जाना तो और भी गहरी चिन्ता का कारण है। परन्तु भीम के वियोग में कुन्ती का मर जाना ठीक है या भीम के मिलन का उपाय करना उचित है? ऐसा अवसर आ जाने पर सभी को उसी उपाय का अवलंबन लेना चाहिए, जिसका कुन्ती ने अवलंबन लिया।

कुन्ती परमात्मा का चिंतन करने बैठी है परन्तु भीम की मूर्ति उसकी आंखों के आगे आ-आ जाती है। वह सुत-सुत कहकर चिल्लाने लगती है। फिर वह सावधान होकर कहती है—अरे मन ! तू ईश्वर को भजता है या कपट करके वेटे के लिए रोता है? रोने से बिछुड़ा बेटा मिलता हो तो रो ले। जी भर कर रो ले। अगर रोने से न मिल सकता हो तो क्यों रोता है? हे मन, जैसे तू बार-बार पुत्र में उलझता है, वैसे परमात्मा में मगन हो जा न? परमात्मा के स्मरण में किसी प्रकार की कमी रही है, तभी तो पुत्र गया है ! अब उसी को दूर करना हो तो भगवान् को भज। परमात्मा का स्मरण करने से पुत्र का उद्धार होगा। वेटा, वेटा बकने से वेटा नहीं आता !

कुन्ती फिर सोचती है—हे मन, तू चिन्ता मत कर। ज्ञान विज्ञान उपजने दे। दुःख के समय ही ज्ञान-विज्ञान उपजता है। रोने से तेरी बड़ाई नहीं है। अतः 'निर्बल के बल राम' सिद्धान्त को अपना कर तू निर्बल हो जा।

कुन्ती आठ दिन तक अन्न-जल का त्याग करके ध्यान में बैठी रही। उधर आठ दिन से भीम खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया। तब उसने नाग राजा से कहा—अब मैं अपने घर जाना चाहता हूं। घर पर मेरी प्रतीक्षा में कुटुम्बी जन व्याकुल होंगे। मैं आपके उपकार का कृतज्ञ हूं।

नागों के राजा ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। जब चाहो जा सकते हो।

दुर्योधन भी ऊपर से चिन्तित होने का दिखावा करता था, पर भीतर ही भीतर फूला नहीं समाता था। वह समझने लगा था, मानों मैं राजा हो ही चुका। वह इसी प्रकार का विचार कर रहा था कि एकाएक आता हुआ भीम उसे दिखाई पड़ा। वह आश्चर्य में डूब गया। लेकिन उसने अपना मनोभाव बड़ी कुशलता से छिपा लिया। वह कपटपूर्वक रोता-रोता कहने लगा—भाई भीम, तुम कहां गायब हो गये थे? तुम्हारे लिए राजपरिवार और प्रजाजन सभी बेचैन हैं। इस प्रकार कहता हुआ वह भीम के साथ युधिष्ठिर के पास पहुंचा। युधिष्ठिर आदि अपने बिछुड़े भाई से भेंट कर कितने प्रसन्न हुए, यह बतलाना कठिन है। सब ने उसे कण्ठ से लगाया और साथ लेकर माता कुन्ती के पास गये।

माता कुन्ती के चरणों में सिर रखकर भीम ने कहा—माता, आपकी कृपा से मैं जीवित और सकुशल आ गया—बल्कि विष भी मेरे लिए अमृत के रूप में परिणत हो गया।

कुन्ती ने भीम को देखकर कहा प्रभो! तेरा प्रभाव अनन्त है। संकट के समय मुझे तू ही याद आता है।

तू ही तू ही याद आवे रे दरद में,
माता पिता अरु भाई भतीजा,
काम पड़्यां भग जावे रे दरद में।

कुन्ती ने भीम के सिर पर प्रेम का हाथ फेरा। वह कहने लगी—वत्स, मैं तुझे क्या देख रही हूं मानो ईश्वर को देख रही हूं। हे प्रभो! मैं यही चाहती हूं कि घोर संकट के समय, सब कुछ चला जाय, एक तू न जाय। बस, मैं यही चाहती हूं।

इसी समय विदुर भी भीम के आने का समाचार पाकर वहां आ पहुंचे।

युधिष्ठिर ने भीम से पूछा—भैया भीम, तू रह कहां गया था?

भीम—आपकी कृपा से सब ठीक हुआ पर दुर्जन अपनी दुष्ठता से नहीं चुके। प्रीतिभोज के समय दुर्योधन ने भोजन में विप दे दिया था। मैं बेहोश हो गया तो उसने मेरे हाथ-पैर बांध दिये और यमुना में छोड़ दिया।

युधिष्ठिर—ऐं, फिर क्या हुआ?

भीम—नाग लोगों ने मुझे देख लिया और वे अपने घर ले गये। उन्होंने मेरी चिकित्सा की और अमृतवल्ली का रस पिलाया। इससे मेरा बल हजार गुना बढ़ गया है। अब तक मैं कौरवों का हित ही हित सोचता था, अब उन्हें एक-एक करके यमधाम पहुंचाऊंगा कि याद रखेंगे!

भीम को क्रुद्ध देखकर युधिष्ठिर कहने लगे—भीम,

शांत रहो। दुर्योधन और उसके भाइयों को मारने की तुम्हारी बात ठीक है और नीति भी यही कहती है कि रोग और शत्रु को उठते ही मार डालना चाहिए, परन्तु माताजी का कहना दूसरा है। नीति की बात माननी चाहिए या माता की? तू यह देख ले।

भीम—माताजी, क्या कहती हैं?

युधिष्ठिर—माता मुझ से कहती थीं—'जब तू गर्भ में आया, तब से मेरी धर्मभावना खूब विकसित हुई है। इस लिए मैं तुझे धर्म का अवतार मानती हूं। तेरे धर्म से मेरी कूंख दीपेगी। यह बात तू माता से पूछ सकता है।

युधिष्ठिर की बात सुनकर कुन्ती बहुत प्रसन्न हुई। जैसे बादल हट जाने पर चन्द्रमा खिल उठता है, उसी प्रकार कुन्ती का हृदय खिल उठा। उसने कहा—बेटा युधिष्ठिर! वास्तव में तुम ठीक कहते हो। इस समय मैं आठ दिन तक धर्म का एकान्त अनुष्ठान करती रही, मैंने शत्रु का भी बुरा नहीं सोचा। मैं सिर्फ भीम के वियोग के शोक से बचने के लिए भगवान् का भजन कर रही थी। भीम का वृत्तान्त सुनकर मेरे मन पर उदासी के बादल छा गये थे परन्तु तेरी बात के पवन ने उन्हें उड़ा दिया।

युधिष्ठिर—भीम, दुर्योधन के इस व्यवहार के कारण नागों से तुम्हारी भेंट हुई और तुम्हें अमृतबल्ली का रस पीने को मिला। ऐसी स्थिति में दुर्योधन को हम लोग शत्रु क्यों मानें? मित्र क्यों न मानें? रह गई नीति की बात, सो नीति और धर्म में अन्तर है। नीति सिखलाती है—'शठे

शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात् दुष्ट के साथ दुष्टता से ही पेश आना चाहिए। किन्तु धर्म की आज्ञा यह नहीं है। धर्म बदला लेने के विचार का विरोधी है। जिस धर्म ने तुम्हारी रक्षा की है और तुम्हारा बल बढ़ाया है, उस धर्म का परित्याग करना कहां तक उचित है? जो बल तुम्हें दुर्योधन के निमित्त से मिला है, उस बल का उपयोग दुर्योधन के मारने में करना कहां तक उचित होगा ?

अर्जुन अभी तक चुपचाप सुन रहा था। दुर्योधन की दुष्टता का विचार करके वह खीझ रहा था। अब उससे न रहा गया। उसने कहा—भाई साहब ! आपका कहना ठीक है कि दुर्योधन की दुष्टता के प्रताप से भीम को शक्ति प्राप्त हुई है, मगर दुर्योधन ने तो अपराध-बुद्धि से ही सब किया था। परिणाम चाहे जो आया, दुर्योधन की भावना तो मलिन ही थी। ऐसी दशा में दुर्योधन निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? उसे यथोचित दंड क्यों नहीं मिलना चाहिए ?

युधिष्ठिर—दुर्योधन का मन मलिन है और उसकी बुद्धि दुष्ट है, यह सही है परन्तु उसके अस्तित्व और उसकी दुष्ट बुद्धि से हमारा विकास ही होगा। सूर्य के प्रकाश की महिमा रात्रि के अन्धकार से, अमृत की महिमा विष से, मंत्र की महिमा सांप से, औषध की महिमा रोग से और साधु की महिमा असाधुओं से है। इसलिए अभी तो मैं दुर्योधन पर समभाव रखने के लिए ही कहूंगा। आगे चलकर कुछ करना पड़ेगा तो दूसरी बात है।'

कुन्ती ने कहा—'पुत्रो ! तुम सभी मुझे एक सरीखे

प्रिय हो, परन्तु युधिष्ठिर में गर्भ के समय से ही धर्म की मात्रा अधिक है। अब वह तुम्हें शिक्षा देने योग्य हुआ है, यह देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं। मैं तुमसे कहती हूं, अगर तुम मेरी आज्ञा मानते होओ तो कभी युधिष्ठिर की आज्ञा से बाहर मत होना। जिस धर्म ने तुम्हारी रक्षा की है, वह युधिष्ठिर में मौजूद है। इसलिए तुम युधिष्ठिर की ही शरण में रहना।'

मित्रो! क्या कुन्ती और युधिष्ठिर की भांति आप भी धर्म पर विश्वास रखोगे? 'जैसे के साथ तैसे' की नीति तो नहीं अपनाओगे? जैसे भीम आदि चारों भाइयों ने युधिष्ठिर की शरण ली, उसी प्रकार आप भी धर्म जानने वाले की शरण लो और युधिष्ठिर का अनुसरण करो।

भीम आदि चारों पाण्डवों ने युधिष्ठिर के अथनानुसार चलने का वचन दिया। युधिष्ठिर कहने लगे—धर्म ही असल में त्राता है। गृहस्थ होने के कारण अपने सामने अनेक विषम अवसर आएंगे परन्तु उस समय धर्म को सामने रख कर ही विचार करना होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब युधिष्ठिर कौरवों के विरुद्ध शस्त्र लेकर खड़े हुए थे, तब उनकी क्षमा और धर्मभावना कहां चली गई थी? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि धर्म सूक्ष्म है और उसकी व्याख्या गम्भीर है। धर्म के स्वरूप को भलीभांति समझ लेने पर ही युधिष्ठिर के कार्य की ठीक आलोचना की जा सकती है। युधिष्ठिर धर्म के कैसे जानकार थे, यह बात इसी से समझी जा सकती है कि इनके भाषण ने कृष्ण की बात भी पीछे हटा दी थी। उन्हें धर्म की सूक्ष्म गति का गहरा ज्ञान था।

युधिष्ठिर और कुन्ती आदि के विचार जान कर विदुर वहुत प्रसन्न हुए ।

अन्त में युधिष्ठिर ने कहा—मेरी वात मानो तो मैं यही कहता हूं कि तुम लोग विष खिलाने की इस घटना का जिक्र किसी के सामने मत करना और दुर्योधन की ओर से कभी असावधान मत रहना । विष देने की वात पर लोग सहसा विश्वास नहीं करेंगे और कई लोग अपने हितशत्रु भी वन जाएंगे ।

युधिष्ठिर की वात सवने स्वीकार की ।

५ : शिक्षा

विदुर वहां से चले तो सीधे भीष्म के पास पहुंचे। इस घटना से उनका चित्त बहुत खिन्न था। उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि कौरव-कुल का कुल-गौरव धूल में मिलाना चाहता है। दुर्योधन के जन्म-काल की सारी घटना उन्हें याद हो आई। उन्होंने भीम को विष दिये जाने की कहानी कह सुनाई। साथ ही यह भी कहा कि राजकुमारों को खेल-कूद में ही रखना ठीक नहीं है। अब इन्हें राजकुमारों के योग्य ऊंची शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

भीष्म ने भी विष के वृत्तान्त पर गहरा खेद प्रकाशित किया। उन्होंने विदुर से कहा—विदुर! तुम कुलदीपक और कुल को मार्ग पर लगाने वाले हो। तुमने ठीक कहा है। मैं तुम्हें सराहता हूं। लेकिन राजकुमारों की शिक्षा की ओर मैं बेखबर नहीं हूं। अब तक मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया, इसका कारण यही है कि समय से पहले बालकों पर शिक्षा का कठिन बोझ डाल देने से उनका स्वाभाविक विकास रुक जाता है। जैसे पौधे को सूर्य और हवा से वंचित करके मकान के भीतर बन्द कर देने से उसका विकास रुक जाता है, उसी प्रकार बच्चों को कम आयु में खेल से वंचित कर

देना उनका विकास रोक देना है । मैं जानता हूं कि राज-कुमार आपस में लड़ते हैं । लेकिन इस प्रकार की लड़ाई के साथ होने वाले विकास को रोकना भी उचित नहीं है । लेकिन अब समय आ गया है । तुमने उचित अवसर पर चेतावनी दी है । विदुर, बताओ, राजकुमारों को क्या सिखलाना चाहिए ?

विदुर कहने लगे दो ही विद्याएं हैं—शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या । दोनों का जोड़ा है । दोनों विद्याएं रथ के दो पहियों के समान हैं । जीवन–रथ को सफलता के मार्ग पर चलाने के लिए दोनों में से किसी भी एक के बिना काम नहीं चल सकता । अलबत्ता, बुढ़ापे में शस्त्रविद्या काम नहीं आती । उस समय तो हाथ शस्त्र का भार भी वहन करने में असमर्थ हो जाते हैं । शास्त्रविद्या जीवन के अन्त तक काम आती है । शास्त्रविद्या आत्मा की खुराक है और शस्त्रविद्या शरीर की खुराक है । शरीर के अभाव में आत्मा कार्यकारी नहीं रहती और आत्मा के अभाव में शरीर की कीमत ही क्या है ? अतएव राजकुमारों को दोनों विद्याएं सिखलानी चाहिए । केवल शस्त्रविद्या सिखाना गुंडापन सिखाना है ।

भीष्म बोले—तुम्हारा विचार उत्तम है विदुर, राज-कुमारों को दोनों ही विद्याएं सीखनी चाहिए । दोनों विद्याओं को और अपनी परम्परा को जानने वाले द्रोणाचार्य हैं । पर उनका पता नहीं है । जब तक उनका पता नहीं चलता, तब तक कृपाचार्य के द्वारा ही इनकी शिक्षाविधि होनी चाहिए ।

साधारण लोगों की धारणा है कि शिक्षा सिर्फ पाठ-

शाला में मिलती है और घर पर नहीं मिलती। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। शिक्षा का आरंभ माता की गोदी से ही हो जाता है। बल्कि सच्ची शिक्षिका माता ही है। शिवाजी कोई राजकुमार नहीं थे। साधारण स्थिति के माता-पिता के घर वे उत्पन्न हुए थे। फिर भी उनकी माता ने उन्हें रामायण और महाभारत पढ़ाकर वीर बना दिया और वीर भी ऐसा कि जिसके विषय में कहा जाता है—

शिवाजी न होते तो सुनत होती सब की।

नैपोलियन भी अपनी वीरता के लिए माता का ही आभारी था। मातृशिक्षा का वास्तव में बड़ा महत्त्व है। किन्तु लोगों की दृष्टि प्रायः पाठशाला की ओर ही लगी रहती है। पाठशाला में इतने अधिक बालक इकट्ठे होते हैं कि न तो प्रत्येक की रुचि और शक्ति का पूरा–पूरा खयाल किया जा सकता है और न कुलधर्म ही वहां सिखलाया जाता है। इस कारण पाठशाला की शिक्षा का परिणाम कभी–कभी उलटा निकलता है। अतएव आठ वर्ष तक माता-पिता को स्वयं की अपनी संतान को शिक्षा देनी चाहिए। संतान को शिक्षा देने के लिए माता–पिता को अपने जीवन-व्यवहार की सरलता और शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। बालक माता–पिता के कहने को उतना नहीं सीखता, जितना उनके 'करने' को सीखता है। तुकाराम कहते हैं—

आई बाप जरी सर्पिणी के बोका।
त्याचे संगे सुखा न पावे बाल॥

अर्थात्—जिसकी माता नागिन-सी और बाप बिलाव-सा

है, उस वालक के लिए कैसा परिणाम होगा ? नागिन अपने अण्डे खा जाती है और बिलाव अपने बच्चे खा जाता है। ऐसे मां-वाप से वालक सुखी कैसे हो सकता है ? और क्या सवक सीख सकता है ?

नागिन और बिलाव को ज्ञान नहीं समझाया जा सकता। ज्ञान तो मनुष्य को ही समझाया जा सकता है। फिर भी मनुष्य के रूप में भी माता नागिन-सी और पिता बिलाव सा होता है।

भीष्म ने विचार किया कि वालकों को विद्या के नाम पर विष देना उचित नहीं है। अतएव योग्य शिक्षक का चुनाव करना चाहिए। अगर शिक्षक योग्य न हुआ तो वालकों की बुद्धि और शक्ति नष्ट हो जाती है। अतएव सब से पहले योग्य शिक्षक खोजना आवश्यक है।

सब तरह सोच-विचार कर भीष्म ने कृपाचार्य से राजकुमारों को शिक्षा दिलाना उचित समझा। कृपाचार्य कुलीन ब्राह्मण थे। भीष्म ने उनका आचरण भी देख लिया था और वह समझते थे कि कृपाचार्य की शिक्षा से हमारे कुल का गौरव बढ़ेगा।

भीष्म ने कृपाचार्य को बुलाकर उन्हें राजकुमार सौंप दिये। कृपाचार्य उन्हें शिक्षा देने लगे और भीष्म भी उन पर निगरानी रखने लगे।

卐

६ : द्रोणाचार्य

द्रोण भारद्वाज के पुत्र थे। भारद्वाज का वंश भारद्वाजी कहलाता है। द्रोण गंगा के तट पर अग्निवेश ऋषि से विद्याध्ययन करते थे। पांचाल देश के राजकुमार द्रुपद भी इन्हीं ऋषि से शिक्षा ग्रहण करते थे। दोनों में घनी मित्रता थी। इन दोनों का मेल ऐसा जान पड़ता जैसे ब्रह्म तेज और राजतेज का समन्वय हो। दोनों में ही अपना-अपना तेज बढ़ता जा रहा था, किन्तु साथ रहने के कारण दोनों का अन्त:करण एक-सा हो गया था। दोनों तीव्रबुद्धि सहपाठियों की मित्रता के कारण एक दूसरे को पढ़ने में भी बड़ी सहूलियत होती थी। दोनों विद्याओं में पारंगत हो गए। मगर द्रोण का कौशल असाधारण था।

द्रुपद और द्रोण अग्निवेष ऋषि से शिक्षा प्राप्त करके अपने-अपने घर लौटने लगे। वर्षों के सहवास, सहपठन और मैत्री के कारण दोनों का हृदय भर आया। विदा होते समय द्रुपद ने कहा—बन्धु, इस समय विदा दो। हम लोग अब जुदा हो रहे हैं, अगर यह जुदाई सदा के लिए नहीं होगी। तुम्हारे बिना, मुझे लगता है कि मैं पूरा नहीं, अधूरा हूं। अतएव हम लोग अवश्य ही फिर मिलेंगे। मैं तुम्हारी

मित्रता को भूल नहीं सकता । मैं इतना कृतघ्न नहीं होऊंगा कि तुम्हें भूल सकूं । अपनी प्रीति को स्थिर रखने के लिए, राज्य मिलने पर मैं आधे सिंहासन पर तुम्हें विठलाऊंगा और आधे राज्य का स्वामी वना दूंगा ।

द्रोण ने कहा—राजकुमार, मुझ जैसे अकिंचन ब्राह्मण-पुत्र के लिए तुम्हारे स्नेह का मूल्य भी वहुत है । मैं तुम्हारे सद्भाव के लिए कृतज्ञ हूं । पर राज्य देने की प्रतिज्ञा मत करो । इस समय स्नेह के आवेश में प्रतिज्ञा कर लेना सरल है, जिसका निभाना कठिन हो सकता है । हम तो ब्राह्मण हैं । राज्य के भूखे नहीं हैं । राज्य मिला तो क्या और न मिला तो क्या ? लेकिन तुम्हारा प्रतिज्ञा करना उचित नहीं है ।

द्रुपद वोला—मैंने आवेश में प्रतिज्ञा नहीं की है । तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध राहगीरों के परिचय जैसा उथला नहीं है, जिसके होने में भी देर नहीं लगती और विगड़ने में भी, तुम्हारा स्थान तो मेरे हृदय में है । जो पूरे हृदय में आसन जमा वैठा है उसे सिंहासन के आधे भाग में विठलाना कौन सी वड़ी वात है ? मैं अपनी प्रतिज्ञा अवश्य निभाऊंगा । मैं वचन देता हूं ।

द्रोण ने कहा—तो भाई तुम्हारी मर्जी ।

इस प्रकार द्रोण को वचन देकर द्रुपद अपने घर के लिए रवाना हुआ । द्रोण भी अपने घर की ओर चल दिये । पांचाल के राजा वूढ़े हो गए थे । द्रुपद जब विद्या और कला में कुशल होकर पहुंचा तो राजा को वड़ा संतोष मिला । उसने अपने सिर का भार द्रुपद पर डाल दिया । द्रुपद राजा हो गया और राज्य का संचालन करने लगा ।

द्रोण के पिता भारद्वाज गरीब ब्राह्मण थे। द्रोण अपने पिता के पास पहुंचे तो पिता को मानो कुबेर का खजाना मिल गया। द्रोण को पाकर वह निहाल हो गया।

गौतमवंशी शर्दवान् के एक पुत्र था और एक पुत्री। पुत्र का नाम कृप और पुत्री का नाम कृपी था। कृप पढ़-लिखकर आचार्य हुआ, जो कृपाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। कृपी का विवाह द्रोण के साथ हुआ। द्रोण और कृपी से अश्वत्थामा नामक एक बालक हुआ जो बहुत गुणवान् और बलवान् निकला। अश्वत्थामा जब छोटा था, तभी भारद्वाज चल बसे थे। द्रोण, कृपी और अश्वत्थामा—तीन आदमी परिवार में थे, लेकिन गरीबी का कष्ट उन्हें बेहद सता रहा था।

द्रोण अपनी दरिद्रता देखकर कभी-कभी ऊब उठते। वह सोचते—'क्या करना चाहिए ? कहां जाना चाहिए ? विद्या पढ़कर नीचों की सेवा करना तो उचित नहीं है। और धन आप ही आप कहीं से आ नहीं सकता। पत्नी कुलीन है, इसी से वह जैसे–तैसे पति और पुत्र का पेट भरती है, परन्तु मैं पत्नी का पेट नहीं भर सकता, यह मेरे लिए लज्जा की बात है।

इस तरह सोचते-सोचते द्रोण घबरा उठे। अन्त में उन्होंने किसी की शरण में जाने का निश्चय किया। इतने में ही उन्होंने सुना कि परशुराम राजपाट छोड़कर वन जाने वाले हैं। द्रोण विचारने लगे कि परशुराम जब वन जा रहे हैं तो उनका सहज ही देना होगा और मेरा सहज ही लेना होगा। ऐसे पवित्रात्मा से याचना करना भी बुरा नहीं है।

द्रोण, परशुराम के पास पहुंचे । परन्तु इनके पहुंचने से पहले ही वह अपना राजपाट लुटा चुके थे । द्रोण के पहुंचने पर परशुराम ने पूछा—ब्राह्मण, अपने आने का प्रयोजन बताओ ।

द्रोण—दारिद्र्य से पीड़ित होकर ही आपके पास आया था ।

परशुराम—मैं सब कुछ दे चुका हूं । अब मेरे पास देने योग्य कुछ नहीं रहा । लेकिन याचना करने के लिए आये हुए को मना करना मैं नहीं जानता । अब मेरे पास यह शरीर है । मैंने अपनी विद्या अभी तक किसी को नहीं दी है । तुम चाहो तो विद्या मैं दे सकता हूं ।

द्रोण—आपके अनुग्रह का आभारी हूं । मैं विद्या लेकर ही संतुष्ट हो जाऊंगा ।

द्रोण, परशुराम से विद्या सीखने लगे । विद्या सीख-कर जब घर लौटे तो वही पुरानी समस्या फिर सामने खड़ी हुई । द्रोण अब अधिक विद्वान हो गये थे, मगर उदरपूर्ति के काम में विद्या नहीं आ सकती थी । पेट विद्या नहीं मांगता, रोटी मांगता है ।

इसी बीच एक घटना और घट गई । अश्वत्थामा लड़कों के साथ खेल रहा था । दोपहर के समय लड़के खेल बन्द करके अपने घर जाने लगे । अश्वत्थामा ने उनसे पूछा—तुम सब खेल छोड़कर कहां जा रहे हो ? लड़कों ने कहा—दूध पीने का वक्त हो गया है, घर जाएंगे और दूध पीएंगे ।

द्रोण के पिता भारद्वाज गरीब ब्राह्मण थे। द्रोण अपनें पिता के पास पहुंचे तो पिता को मानो कुबेर का खजाना मिल गया। द्रोण को पाकर वह निहाल हो गया।

गौतमवंशी शर्दवान् के एक पुत्र था और एक पुत्री। पुत्र का नाम कृप और पुत्री का नाम कृपी था। कृप पढ़-लिखकर आचार्य हुआ, जो कृपाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। कृपी का विवाह द्रोण के साथ हुआ। द्रोण और कृपी से अश्वत्थामा नामक एक बालक हुआ जो बहुत गुणवान् और बलवान् निकला। अश्वत्थामा जब छोटा था, तभी भारद्वाज चल बसे थे। द्रोण, कृपी और अश्वत्थामा—तीन आदमी परिवार में थे, लेकिन गरीबी का कष्ट उन्हें बेहद सता रहा था।

द्रोण अपनी दरिद्रता देखकर कभी-कभी ऊब उठते। वह सोचते—'क्या करना चाहिए ? कहां जाना चाहिए ? विद्या पढ़कर नीचों की सेवा करना तो उचित नहीं है। और धन आप ही आप कहीं से आ नहीं सकता। पत्नी कुलीन है, इसी से वह जैसे-तैसे पति और पुत्र का पेट भरती है, परन्तु मैं पत्नी का पेट नहीं भर सकता, यह मेरे लिए लज्जा की बात है।

इस तरह सोचते-सोचते द्रोण घबरा उठे। अन्त में उन्होंने किसी की शरण में जाने का निश्चय किया। इतनें में ही उन्होंने सुना कि परशुराम राजपाट छोड़कर वन जाने वाले हैं। द्रोण विचारने लगे कि परशुराम जब वन जा रहे हैं तो उनका सहज ही देना होगा और मेरा सहज ही लेना होगा। ऐसे पवित्रात्मा से याचना करना भी बुरा नहीं है।

द्रोण, परशुराम के पास पहुंचे। परन्तु इनके पहुंचने से पहले ही वह अपना राजपाट लुटा चुके थे। द्रोण के पहुंचने पर परशुराम ने पूछा—ब्राह्मण, अपने आने का प्रयोजन बताओ।

द्रोण—दारिद्रय से पीड़ित होकर ही आपके पास आया था।

परशुराम—मैं सब कुछ दे चुका हूं। अब मेरे पास देने योग्य कुछ नहीं रहा। लेकिन याचना करने के लिए आये हुए को मना करना मैं नहीं जानता। अब मेरे पास यह शरीर है। मैंने अपनी विद्या अभी तक किसी को नहीं दी है। तुम चाहो तो विद्या मैं दे सकता हूं।

द्रोण—आपके अनुग्रह का आभारी हूं। मैं विद्या लेकर ही संतुष्ट हो जाऊंगा।

द्रोण, परशुराम से विद्या सीखने लगे। विद्या सीख-कर जब घर लौटे तो वही पुरानी समस्या फिर सामने खड़ी हुई। द्रोण अब अधिक विद्वान हो गये थे, मगर उदरपूर्ति के काम में विद्या नहीं आ सकती थी। पेट विद्या नहीं मांगता, रोटी मांगता है।

इसी बीच एक घटना और घट गई। अश्वत्थामा लड़कों के साथ खेल रहा था। दोपहर के समय लड़के खेल बन्द करके अपने घर जाने लगे। अश्वत्थामा ने उनसे पूछा—तुम सब खेल छोड़कर कहां जा रहे हो? लड़कों ने कहा—दूध पीने का वक्त हो गया है, घर जाएंगे और दूध पीएंगे।

अश्वत्थामा ने पूछा—क्या तुम लोग रोज दूध पीते हो ? लड़कों के हां कहने पर अश्वत्थामा ने कहा—मैं भी घर जाकर मां से दूध मांगूंगा ।

अश्वत्थामा सीधा घर पहुंचा । उसने द्रोण से कहा—पिताजी, सब लड़के दूध पीते हैं । मुझे दूध क्यों नहीं पिलाते ?

बालक खाने-पीने की चीज मांगता हो, उसके लिए हठ करता हो और माता-पिता दरिद्रता के कारण खिलाने-पिलाने में असमर्थ हों तो उस समय मां-बाप के कलेजे में कितना कष्ट होता है, यह कल्पना भी कठिन है । उस घोर व्यथा की कल्पना वे ही कर सकते हैं जो उस स्थिति का अनुभव कर चुके हैं । उस समय की विवशता बड़ी गहरी होती है, मानों कलेजे पर किसी ने करोत चला दी हो ! बड़े-बड़े साहसी भी उस स्थिति में चंचल हो जाते हैं । उन्हें अपने ऊपर घृणा का भाव उत्पन्न होता है और वे जिस समाज में रहते हैं उस समाज के विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारू हो जाते हैं ।

अश्वत्थामा की मांग से द्रोण का दिल द्रवित हो गया । दुःख असह्य होने पर भी वे विवश थे । वे सोचने लगे मेरी विद्या और बुद्धि का क्या फल है ? मैंने अपना जीवन विद्याध्ययन में बिता दिया और बच्चा जरा-से दूध के लिए तरस रहा है ! गाय कहां से लावें और बच्चे को दूध कैसे पिलावें ? यहां रोटियों का भी ठिकाना नहीं है? संसार की दशा तो देखो, जो विद्या की प्रशंसा करते-करते

नहीं थकता और विद्वानों की ऐसी दुर्दशा होती है ! लोगों को यह क्यों नहीं सूझता कि विद्या, विद्वानों के सहारे टिकी हुई है तो विद्या का आदर करने के लिए विद्वानों की भी चिन्ता करें ? विद्वानों का कर्त्तव्य नवीन विद्या उपार्जन करना और सीखी हुई विद्या दूसरों को देना है। नमक-मिर्च की चिन्ता उन्हें करनी पड़ती है तो विद्या का विकास किस प्रकार हो सकता है ? धनी लोग चाहते हैं कि विद्वान उनके सामने अपना मत्था टेकें, पर द्रोण किसी भी हालत में अपनी विद्या का अपमान नहीं होने देगा।

द्रोण इस प्रकार की विचार धारा में बहे जा रहे थे, तभी अश्वत्थामा ने फिर तकाजा किया पिताजी, आज तो मैं जरूर दूध पीऊंगा। नहीं मानूंगा, नहीं मानूंगा।

द्रोण को जैसे एक साथ सौ बिच्छुओं ने काट खाया। द्रोण ने सोचा—किसी प्रकार बालक को समझाना होगा। इसने अभी तक माता का ही दूध जाना है। गाय-भैंस का दूध बेचारा जानता ही नहीं है। इसलिए कोई बहाना करके इसे समझा लेना ही उचित है। यह सोचकर द्रोण ने कहा—अच्छा बच्चे, ठहर जा। अभी दूध पिलाता हूं।

इतना कह कर द्रोण घर के भीतर घुसे। उन्होंने एक कटोरे में पानी लिया। पानी में आटा घोला। घोल कर उसे हिला दिया। पानी जब सफेद हो गया तो बालक के सामने ले आये और बोले ले बेटा, दूध पी ले।

अश्वत्थामा प्रसन्न होता हुआ पानी में घुला आटा दूध समझ कर पी गया। वह फिर बच्चों में जाकर खेलने

लगा । वह कहने लगा—मैं दूध पी आया हूं ।

बालक प्रसन्न था और द्रोण ? द्रोण का हृदय आहत हो रहा था ।

मित्रो ! क्या द्रोण में इतना सामर्थ्य नहीं था कि इतने विद्वान् होकर भी गरीबी की ऐसी हालत में रहें ? वे खेती कर सकते थे या गाय-भैंस का पालन कर लेते जिससे भली-भांति निर्वाह हो जाता । आप शायद कह देंगे कि द्रोण आलसी और उद्यमहीन थे । वे पढ़े-लिखे मूर्ख थे । ऐसी विद्या किस काम की, जिससे भर पेट खाने को भी न मिले । परन्तु इस बात को अपने कांटे पर मत तोलो । उन विद्वानों की बातों को उन्हीं सरीखे किसी महापुरुष की बातों से ही तोलो । तभी उनका वजन मालूम होगा ।

महाराणा प्रताप जैसे वीर-केशरी ने सिंहासन पर बैठ करके भी कितनी मुसीबतें उठाई ? वे जङ्गल-जङ्गल भटकते फिरे । घास की रोटियां खानी पड़ीं । उनकी कन्या को आधी रोटी के लिए रोना पड़ा । क्या महाराणा भी उद्यमहीन थे ? उन्होंने खेती क्यों नहीं कर ली, जिससे जीवन तो आराम से बीत जाता ?

मैं कहता हूं—वह स्वभाव का धनी पुरुष था । वह ऐसा कर लेता तो उसका गौरव ही मारा जाता । बड़े पुरुष बड़े कार्य ही करते हैं तुच्छ कार्यों में वे अपनी शक्ति और समय नहीं लगाते । ऐसा करने में उनका गौरव भी नहीं है ।

महाराणा प्रताप अगर अकबर के सामने झुक जाते

तो उन्हें किस चीज की कमी रह जाती है ? लेकिन वह क्यों नहीं झुके ? इसका कारण यही है कि वे आत्मगौरव के धनी थे। वे सब कष्टों को तुच्छ और आत्मगौरव को बड़ा मानते थे।

द्रोण भी अपनी आजीविका के लिए जो चाहते सो कर सकते थे। मगर साधारण कार्य करने में उन्होंने अपनी शक्ति त्यागना उचित नहीं समझा। वे उस समय के अद्वितीय विद्वान् थे। शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या में वे असाधारण थे। उन्होंने स्व-मान की रक्षा के लिए बहुत कष्ट उठाये। आखिर दरिद्रता के दुःख से वे व्याकुल हो उठे। दरिद्रता ने उनके दूसरे से न मांगने के अभिमान को चूर कर दिया।

एक दिन द्रोण को ध्यान आया कि मेरा मित्र द्रुपद राजा हो गया है, फिर मुझे वृथा कष्ट उठाने से क्या प्रयोजन है ? उसने मुझे आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा की है। क्यों न मैं उसके पास चला जाऊं ? वह अवश्य ही मेरे दुःख को दूर करेगा।

द्रोण ने पांचाल की ओर प्रस्थान किया। वे पांचाल की राजधानी में जा पहुंचे। राजमहल के द्वार पर जाकर उन्होंने द्वारपाल से कहा—महाराज से जाकर कह दो कि आपका मित्र द्रोण आपसे भेंट करने आया है।

पहरेदार ने जाकर द्रुपद से सब वृत्तांत कह दिया। राजा सोचने लगा—यह द्रोण कौन है ? 'द्रोण' शब्द का

अर्थ क्या है ? मैं तो उसे नहीं पहचानता। सामने आने पर शायद पहचान लूं ! और राजा ने द्वारपाल से कहा— अन्दर आने दो।

द्वारपाल ने द्रोण को भीतर भेज दिया। द्रोण सोचते थे कि मेरा नाम सुनते ही राजा दौड़ा आएगा मगर उसे सामने न आया देख द्रोण मन ही मन अपमान अनुभव करने लगे। फिर सोचा—वह राजा हो गया है, कोई हर्ज नहीं। मैं वहीं जाकर मिलता हूं।

द्रोण, राजा के सामने पहुंचे। द्रोण का वेश दरिद्रता का प्रतीक था। द्रुपद के आगे दरिद्रता का चित्र खिच गया। फिर भी द्रोण के चेहरे पर जो विशिष्ट तेज था, उससे द्रुपद को यह समझने में देर न लगी कि यह कोई सामान्य पुरुष नहीं है। द्रोण ने जाते ही कहा—मित्र, कुशलतापूर्वक तो हो ?

द्रुपद—द्रोण ! तुम्हारा यहां कैसे आना हुआ ?

द्रोण—मुझ पर बड़ी मुसीबत आ पड़ी है। दुःख के बादलों से घिर गया हूं। आप ही मेरा दुःख दूर कर सकते हैं। दूसरे के सामने जाकर तो मैं अपनी कष्टकथा कहना भी उचित नहीं समझता।

तुलसीदास ने कहा—

तुलसी पर घर जायके, क़भी न दीजे रोय।
भरम गंवावे गांठ को, बांट सके नहिं कोय॥

द्रोण कहने लगे—आप मेरे परम मित्र हैं । इसीलिए मैं आपके पास आया हूं । इस कष्ट में और किसके पास जाता ?

धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
आपत्ति काल परखिये चारी ॥

मित्र ! आपने मुझे आधा राज्य देने का वचन दिया था । अब उस वचन को पूरा कीजिए ।

द्रोण की बातें सुनकर द्रुपद सोचने लगा अच्छा हुआ मैंने इसे मित्र शब्द से संबोधित नहीं किया । राजा मित्र को बहुत सोच-विचार कर ही बोलना चाहिए । मैं इसे मित्र कह देता तो यह अभी मेरे गले पड़ जाता ।

उसने कहा—अरे ब्राह्मण ! क्या तेरी मति मारी गई है ? बहकी-बहकी बातें क्यों बना रहा है ? मैं तो यह भी नहीं जानता कि तू कौन है ? और तू मुझे मित्र-मित्र कह रहा है ! जानता भी है, मैं कौन हूं ? मैं और तुझ दरिद्र का मित्र ! मुझसे आधा राज्य मांगने चला है, तो राज्य मिलना क्या बच्चों का खेल है ? राज्य ऐसी चीज नहीं है जो यह चाहे भिखारी को दे दिया जाय ! तुझ जैसे बहुत याचक आता है । ब्राह्मण, किस पर तू मेरे ऊपर अधिकार का बोझ लादता है । तू बहुत को नहीं कहा ? उसका हूंगा है । किसके आगे क्या कह रहा है ?

बदल जाएगा । द्रोण अपमान के मारे भीतर ही भीतर जलने लगे । लेकिन संभल कर बोले—मित्र, ठीक है। इसमें आपका दोष नहीं है । दोष है तो सम्पत्ति का । सम्पत्ति मिल जाने पर पुरुष को तीन बातें पसन्द नहीं आतीं—पुराना मित्र, पुराना मकान और पुरानी पत्नी । आप मुझे पहचानते नहीं हैं ? क्या आपने मेरे साथ अग्निवेष ऋषि से विद्याध्ययन नहीं किया है ? क्या हम दोनों सहपाठी नहीं रहे हैं ? मैंने आपको अध्ययन में कुछ भी सहायता नहीं पहुंचाई थी ? उस समय हम दोनों एक–प्राण होकर रहे थे । लेकिन आज राजवैभव पाकर वह सब भूल गये ?

द्रुपद मन में सब समझ चुका था । फिर भी वह अनजान बन कर कहने लगा—तुम इतने विद्वान् हो मगर ज्ञानी नहीं हो । तुम्हारे साथ मेरी मित्रता किस प्रकार हो सकती है ? प्रीति, बैर और सगाई तो बराबरी वालों के साथ होती है । रथ के दोनों पहिये बराबर न हों तो रथ कैसे चल सकता है ? अब तुम्हीं सोचो कि तुम दरिद्र भिखारी हो और मैं राजा हूं । तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसे होगी ?

दूसरी बात यह भी है कि अगर बचपन में वचन दे भी दिया हो तो बचपन के वचन का सयानेपन में पालन नहीं किया जा सकता । बालकों की बातें बालपन के साथ खत्म हो गई । ऐसी स्थिति में आधा राज्य मांगते हुए तुम्हें संकोच नहीं है, लज्जा नहीं है ? अब अपना भला चाहो तो चुपचाप यहां से चल दो । मैं तुम्हारे साथ अधिक बात नहीं करना चाहता ।

घोर अपमान से द्रोण पीड़ित हो गये। वे सोचने लगे—अब क्या करना चाहिए? बराबरी की मित्रता का अर्थ तो यही है कि मैं भी राजा बनूं, तब यह मेरे साथ मित्रता करेगा और बचपन में दिये वचन का पालन नहीं किया जा सकता, यह कहना भी सही नहीं समझना चाहिए। इसमें कानून से कोई उज्र नहीं किया जा सकता। कानून की दृष्टि से मैं हार गया हूं।

द्रोण का हृदय क्रोध से प्रज्वलित हो उठा। शरीर कांपने लगा और भृकुटि चढ़ गई। द्रोण ने कहा—'तुम्हारी और मेरी मित्रता का जोड़ किस प्रकार जुड़ सकता है, यह बात मैं अभी खोलकर नहीं कह सकता। लेकिन याद रखना, अगर मुझमें कुछ भी पुरुषार्थ है और विद्या का बल है तो मैं तुझे अपने शिष्यों के द्वारा हाथ बंधवाकर मंगवाऊंगा। तू मेरे पैरों में पड़कर अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप करेगा और क्षमा की भीख मांगने के लिए गिड़गिड़ाएगा। मैंने ऐसा न किया तो समझ लेना, मेरा नाम द्रोण नहीं।'

द्रोण इतना कहकर लौटने को तैयार हुआ ही था कि द्रुपद ने अपने सिपाहियों से कहा—इसे पकड़ कर बाहर निकाल दो।

द्रोण—मुझे बाहर निकालने की आवश्यकता ही क्या है? मैं तो खुद ही जा रहा हूं। इतना कहकर द्रोण ने साथ छोड़ दिया।

द्रुपद—जाओ भी, यह तुम्हारा बड़ा [illegible] है?

बदल जाएगा । द्रोण अपमान के मारे भीतर ही भीतर जलने लगे । लेकिन संभल कर बोले—मित्र, ठीक है । इसमें आपका दोष नहीं है । दोष है तो सम्पत्ति का । सम्पत्ति मिल जाने पर पुरुष को तीन बातें पसन्द नहीं आतीं—पुराना मित्र, पुराना मकान और पुरानी पत्नी । आप मुझे पहचानते नहीं हैं ? क्या आपने मेरे साथ अग्निवेष ऋषि से विद्याध्ययन नहीं किया है ? क्या हम दोनों सहपाठी नहीं रहे हैं ? मैंने आपको अध्ययन में कुछ भी सहायता नहीं पहुंचाई थी ? उस समय हम दोनों एक–प्राण होकर रहे थे । लेकिन आज राजवैभव पाकर वह सब भूल गये ?

द्रुपद मन में सब समझ चुका था । फिर भी वह अनजान बन कर कहने लगा—तुम इतने विद्वान् हो मगर ज्ञानी नहीं हो । तुम्हारे साथ मेरी मित्रता किस प्रकार हो सकती है ? प्रीति, बैर और सगाई तो बराबरी वालों के साथ होती है । रथ के दोनों पहिये बराबर न हों तो रथ कैसे चल सकता है ? अब तुम्हीं सोचो कि तुम दरिद्र भिखारी हो और मैं राजा हूं । तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसे होगी ?

दूसरी बात यह भी है कि अगर बचपन में वचन दे भी दिया हो तो बचपन के वचन का सयानेपन में पालन नहीं किया जा सकता । बालकों की बातें बालपन के साथ खत्म हो गई । ऐसी स्थिति में आधा राज्य मांगते हुए तुम्हें संकोच नहीं है, लज्जा नहीं है ? अब अपना भला चाहो तो चुपचाप यहां से चल दो । मैं तुम्हारे साथ अधिक बात नहीं करना चाहता ।

घोर अपमान से द्रोण पीड़ित हो गये। वे सोचने लगे—अब क्या करना चाहिए ? बराबरी की मित्रता का अर्थ तो यही है कि मैं भी राजा बनूं, तब यह मेरे साथ मित्रता करेगा और बचपन में दिये वचन का पालन नहीं किया जा सकता, यह कहना भी सही समझना चाहिए। इसमें कानून से कोई उज्र नहीं किया जा सकता। कानून की दृष्टि से मैं हार गया हूं।

द्रोण का हृदय क्रोध से प्रज्वलित हो उठा। शरीर कांपने लगा और भृकुटि चढ़ गई। द्रोण ने कहा—'तुम्हारी और मेरी मित्रता का जोड़ किस प्रकार जुड़ सकता है, यह बात मैं अभी खोलकर नहीं कह सकता। लेकिन याद रखना, अगर मुझमें कुछ भी पुरुषार्थ है और विद्या का बल है तो मैं तुझे अपने शिष्यों के द्वारा हाथ बंधवाकर मंगवाऊंगा। तू मेरे पैरों में पड़कर अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप करेगा और क्षमा की भीख मांगने के लिए गिड़गिड़ाएगा। मैंने ऐसा न किया तो समझ लेना, मेरा नाम द्रोण नहीं।'

द्रोण इतना कहकर लौटने को तैयार हुआ ही था कि द्रुपद ने अपने सिपाहियों से कहा—इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो।

द्रोण—'मुझे बाहर निकालने की आवश्यकता ही क्या है ? मैं तो खुद ही जा रहा हूं।' इतना कहकर द्रोण तेजी के साथ चल दिया।

द्रुपद—जाने दो, वह हमारा क्या बिगाड़ सकता है ?

द्रुपद ऊपर से दृढ़ होने पर भी भीतर ही भीतर भय के कारण कांप उठा । वह सोचने लगा—हाय, मैंने यह क्या किया ? द्रोण बड़ा विद्वान् है, कौन जाने क्या विपत्ति ले आएगा ! लेकिन अब कोई उपाय भी नहीं है ।

द्रोण वहां से चलकर विचारने लगे—अब मुझे कहां जाना चाहिए और क्या करना चाहिए ?

अभी तक द्रोण के सामने एक ही प्रश्न था—कुटुम्ब का पालन कैसे किया जाय ? अब दूसरी समस्या यह उत्पन्न हो गई कि इस अपमान का बदला किस प्रकार लिया जाय? इस प्रकार दोहरा बोझ लिए द्रोण वहां से लौट रहा था ।

द्रोण ने निश्चय किया—'मेरा साला कृपाचार्य कौरवों और पाण्डवों को पढ़ाता है । मुझे वहीं जाना चाहिए । भीष्म पितामह ही मेरे दर्द को जानेंगे । उनमें क्षात्र तेज है । मुझे उन्हीं की शरण में जाना चाहिए ।' द्रोण हस्तिनापुर की ओर चल दिया ।

अभिमान मनुष्य का भयानक शत्रु है । सम्पत्ति पाकर जो अभिमान में चूर हो जाते हैं, उन्हें एक न एक दिन घोर पश्चात्ताप करना ही पड़ता है । एक कवि ने कहा है—

सज्जन सम्पति पाय कै, बड़ो न कीजे चित्त ।
तीनों को न विसारिये, हरि नारी अरु मित्त ।।

उपकारी के उपकार को भूल जाना बड़ी भारी कृतघ्नता है । जरा विचार करो कि माता-पिता और गुरु का तुम्हारे

ऊपर कितना ऋण है ? उन्होंने तुम्हारे ऊपर असीम उप–कार किया है। आज वे कितने वृद्ध हो गये हैं ! उनमें अच्छी तरह चलने–फिरने की भी शक्ति नहीं रही है। ऐसे समय में क्या उनकी सेवा नहीं करनी चाहिए ? क्या मनुष्य की मनुष्यता उनके प्रति कृतघ्न होने से कायम रह सकती है ?

मैं तो यह कहता हूं कि माता-पिता की सेवा तो करनी ही चाहिए और ऐसा करने में मनुष्यता की क्या विशेषता है ? विशेषता तो तब है जब अपने अपकारी (शत्रु) के साथ भी उपकार किया जाय। द्रोण ने क्रोध में आकर द्रुपद का अपकार करने की प्रतिज्ञा की। यह कोई श्लाघनीय बात नहीं है। क्रोध का बदला क्रोध से चुकाना उचित नहीं है। क्रोध का बदला क्षमा के द्वारा लेने में ही प्रशंसा है। यह आध्यात्मिक विद्या का काम है। सत्पुरुष वे कहलाते हैं, जो अपने शत्रु का अपकार न करने की ही भावना रखते हैं। कहा भी है—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः,
स्वार्थान् परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृताः,
स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं,
स्वार्थाय निघ्नंति ये ।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं,
ते के न जानीमहे ? ॥

अर्थात् जो पुरुष अपना सर्वस्व लगा कर भी दूसरे का उपकार करते हैं वे सत्पुरुष हैं। जो अपना स्वार्थ

साधता हुआ भी दूसरों का अपकार नहीं करता और मौका मिलने पर परोपकार भी करता है, वह मध्यम पुरुष है। जो अपने स्वार्थ की साधना करना ही जानता है और दूसरों के कार्य को बिगाड़ कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वह मनुष्य-रूप में राक्षस है। परन्तु जो निरर्थक ही दूसरों के कार्य को बिगाड़ता है, उसे क्या कहा जाय ? किससे उसकी उपमा दी जाय ?

कवि को भी यह चिन्ता हुई। उसे उनके लिए कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला। इसलिए उसने कह दिया—

ते के न जानीमहे।

हमें सूझ नहीं पड़ता कि ऐसे लोगों को क्या उपमा देनी चाहिए ?

कहने का आशय यह है कि अपना स्वार्थ त्याग करके भी दूसरों का उपकार करना चाहिए। अगर परोपकार न बन सके तो कम से कम अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के कार्य को तो हानि मत पहुंचाओ। जो पुरुष हृदय में धर्म रखकर दूसरों का उपकार करेगा, वह परम कल्याण का भागी होगा।

प्राचीन भारतीय राजनीति-शास्त्र में त्रयी, वार्त्ता, दण्ड नीति और आन्वीक्षिकी, ये चार प्रकार की विद्याएं कही गई हैं। इनके विशेष वर्णन का तो अवकाश नहीं है, फिर भी संक्षेप में दण्डनीति के विषय में कुछ विचार प्रकट करना है।

कौरव और पाण्डव दण्डनीति का अभ्यास कर रहे हैं। संसार की रक्षा करने के लिए दण्डनीति की भी आवश्यकता हुआ करती है, फिर भी उसके भीतर दया और करुणा का होना आवश्यक है। दया और करुणा के बिना दण्डनीति

राक्षसी नीति बन जाती है। महावत हाथी को वश में करने के लिए अंकुश का प्रयोग करता है किन्तु समय पर हाथी को खिलाता-पिलाता भी है। महावत समय पर हाथी को खाना-पीना न दे और अंकुश ही लगाता रहे तो हाथी मर जायगा या महावत के विरुद्ध विद्रोह कर बैठेगा। हाथी के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करने वाला महावत, महावत नहीं कहला सकता। वह कसाई व चाण्डाल कहा जायगा। इसी प्रकार राजा प्रजा को वश में रखने के लिए दण्डनीति का प्रयोग करता है परन्तु यदि वह दण्डनीति का प्रयोग करता रहे और प्रजा के हित का तनिक भी विचार न करे तो उसे राजा कैसे कहा जा सकता है?

जब अपराधी को कारगार में बन्द कर दिया जाता है तो उसके खाने-पीने आदि की जिम्मेदारी राज्याधिकारियों पर आ जाती है। अगर वे कैदी के खान-पान का उचित प्रबंध न करें तो स्वयं अपराधी ठहरते हैं। यह विषय यहीं समाप्त किया जाता है।

पाण्डवों और कौरवों ने कृपाचार्य की विद्या थोड़े ही दिनों में सीख ली। अतएव भीष्म पितामह को चिन्ता हुई कि अब राजकुमारों के लिए किसी उच्च कोटि के विद्वान् की व्यवस्था करनी चाहिए। बड़े तालाब बड़ी नदियों के बिना नहीं भरते। उन्हें भरने के लिए बड़ी नदी चाहिए। इसी प्रकार इन महान् प्रतिभा वाले पाण्डवों और कौरवों के लिए किसी महान् विद्वान् की आवश्यकता है, जिससे वे शस्त्र आदि की विद्याओं में पूरी तरह प्रवीण हो जाएं।

द्रोण की कीर्ति जग जानी,

गांगेयजी यों मन में ठानी ।
मुझे यदि मिले द्रोण ज्ञानी,
पुत्रों को उनसे सिखलाऊं ।
धनुर्धर पूरा बनवाऊं,
मेरी जान घरम चित धर रे ।

उस समय भी द्रोण की कीर्ति सर्वत्र फैल चुकी थी। भीष्म पितामह के कानों में भी उनकी कीर्ति पहुंची । वे द्रोण को खोज में रहने लगे । राजा लोग दक्ष हुआ करते हैं । वे जागरूक कहलाते हैं । चाहे वे सोते हों या जागते हों, कर्त्तव्य का ध्यान उन्हें सदैव बना रहता है ।

दारू पीकर और दूसरी नशीली चीजों का सेवन करके पड़े रहना तथा बेभान होकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाना राजाओं का कर्त्तव्य नहीं है । जो राजा अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं, उन पर घोर संकटों और आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ते हैं । मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह ने जब शराब का त्याग कर दिया तो उनके विषय में किसी कवि ने कहा था—

एश वेश जाण्यो नहीं, धार्यों धर्म अनूप ।
पाप जान मदपान को, छांड़े राण स्वरूप ।

इधर भीष्म पितामह द्रोण की खोज में थे और उधर द्रुपद से खटक जाने के कारण द्रोण कृपाचार्य के पास आ पहुंचे । उन्हें भी पितामह भीष्म की खोज थी ।

उधर से द्रोण गुरु आये,
कुंए से गेंद बाहर लाये ।

चातुरी से अचरज पाये,
कुंवर सब भीष्म पै आये ।
हकीकत सुन कर हरसाये,
मेरी जान धरम चित्त धर रे ।

यों तो कृपाचार्य भी बड़े विद्वान् थे, पर उनकी समस्त विद्या राजकुमार पी चुके थे। कृपाचार्य स्वयं चाहते थे कि कोई विशेष ज्ञानी आकर इन राजकुमारों को शिक्षा दे तो अच्छा हो। कृपाचार्य उदार विद्वान् थे और इसलिए वे विद्वानों की कद्र जानते थे। कहा भी है—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।

अर्थात—विद्वानों के परिश्रम को विद्वान् ही समझ सकता है। जो स्वयं विद्वान् नहीं है, जिसे विद्या की वास्तविक महिमा मालूम नहीं है, वह वेचारा विद्वानों की क्या कद्र करेगा ?

कृपाचार्य ने सामने से आते हुए एक पुरुष को देखा। श्याम शरीर और सुन्दर तथा तेजोमय उसकी मुखाकृति थी उसकी वेष–भूषा और यज्ञोपवीत से जाना जा सकता था कि वह कोई ब्राह्मण है। उसके वस्त्र सादे थे। हाथ में धनुष था। उसको तेजस्विता ही प्रकट कर देती थी कि वह कोई महान् आत्मा है।

द्रोण समीप से समीपतर आ पहुंचे। निकट आते ही कृपाचार्य की दृष्टि उन पर पड़ी। वे अपने वहनोई का स्वागत करने के लिए आगे वढ़े। प्रेम के साथ मिले,

यथोचित आदर-सत्कार करके उन्हें उच्च आसन पर विठाया।

कोई क्षुद्र हृदय का विद्वान् होता तो ईर्ष्या के कारण जल उठता। वह सोचने लगता—मेरा अधिकार छीनने वाला यह क्यों आ धमका है! मेरे चेले किसी दूसरे को गुरु बनाएं, यह तो वहुत अनुचित बात होगी। कहीं मेरे शिष्य ही मुझसे आगे न बढ़ जाएं!

कृपाचार्य का हृदय ऐसा संकीर्ण नहीं था। उन्होंने कहा—महाराज! इस समय आपका पधारना बहुत अनुकूल रहा। मेरा काम पूरा हो चुका है। मैंने क्षेत्र तैयार कर दिया है, अब आप बीज बोइए। नींव मैंने डाल दी है, आप इमारत खड़ी कीजिए। अब आपका कार्य आरम्भ होना चाहिए।

कृपाचार्य की बात सुनकर द्रोण गद्‌गद् हो गये। वे सोचने लगे—मैं सोच रहा था कि अब कहां जाना चाहिए? लेकिन प्रकृति की शक्ति गजब की होती है।

द्रोण ने कृपाचार्य से कहा—आप भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। मेरा अतिथि-सत्कार करना आपका धर्म है। आपके यहां रहूंगा, लेकिन मैं इतना अवश्य चाहता हूं कि आप मेरी कहीं भी चर्चा न कीजिए। आप भीष्मजी के पास जाकर मेरा परिचय दें और तब वे मुझे बुलावें, इसमें मैं अपना अपमान समझता हूं। वे स्वयं ही मुझे बुलावें या अपनी विभूति से मैं प्रकट होऊं, यही अच्छा है।

कृपाचार्य, द्रोण की बात का महत्त्व समझ गए। उन्होंने

उनके आगमन की चर्चा न करने की स्वीकृति दे दी।

फटे-पुराने वस्त्र हैं और परिवार की चिंता सिर पर सवार है। फिर भी द्रोण में कितना आत्म-गौरव है ! स्वभाव के धनी ऐसे ही होते हैं। द्रोण ने निश्चय कर लिया कि वे भीष्म के पास बिना बुलाये नहीं जाएंगे।

एक दिन कौरव और पाण्डव गेंद खेल रहे थे। गेंद का खेल बहुत पुराना है। प्राचीन कवियों ने कन्दुक-क्रीड़ा का बहुत सुन्दर रीति से वर्णन किया है। परन्तु यह सब प्राय: संस्कृत भाषा में है। आजकल बेचारी संस्कृत भाषा को कौन पूछता है ? अब यह मृतभाषा कहलाती है और अंग्रेजी भाषा पढ़ने में ही लोग गौरव अनुभव करते हैं वे समझते हैं कि हमारे देश की प्राचीन भाषाओं में कोई सार ही नहीं है। लोगों को यह मालूम ही नहीं कि हमारी वस्तु ही हमें रूपान्तर करके वापिस दी जा रही है।

खेलते-खेलते गेंद एक कुंएं में जा गिरी। सभी राजकुमार सोचने लगे—कौन इस अन्धकूप में उतरे ? लेकिन गेंद के बिना खेल का सारा मजा ही किरकिरा हो गया है।

सोचना चाहिए कि राजकुमारों को गेंदों की क्या कमी थी ? चाहते तो एक नहीं, सौ गेंद उसी समय हाजिर हो जातीं। परन्तु वे उसी गेंद को निकालने की बात सोचने लगे। इसमें भी कोई गुप्त रहस्य की बात ही होनी चाहिए।

जिसने गेंद कुंएं में डाली थी, उससे दूसरा कहने लगा—तुम्हीं गेंद निकालो। तुम्हीं ने डाली है।

तीसरे ने कहा—हां, ठीक तो है। जिसने डाली, वही निकाले। डालने वाला ही निकालने के लिए जिम्मेदार है।

चौथे ने कहा—तुम्हें ध्यान रखकर गेंद में दोटा (टोरा) लगाना चाहिए। गेंद को पकड़ कर बैठे रहने से भी खेल का मजा बिगड़ जाता है और अनुचित स्थान पर फैंक देने से भी। उचित स्थान पर ही उसे डालना ठीक रहता है। यह गेंद के लिए ही नहीं, राजलक्ष्मी के लिए भी ऐसी ही बात है। उसे पकड़ बैठे रहने से संसार के खेल का मजा बिगड़ जाता है और अस्थान में डालने से भी। देखो न, राम और भरत ने राजलक्ष्मी को गेंद बनाकर कैसा बढ़िया खेल खेला था! राम उसे भरत के पास भेजते थे और भरत राम के पास। राम और भरत का यह खेल आज भी संसार में सराहनीय माना जाता है।

जिसने गेंद कुएं में डाली थी वह कहने लगा—ठीक है, मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूं। परन्तु तुम सब भी तो मेरे भाई हो। तुम्हें भी मेरी सहायता करनी चाहिए, जिससे तुम्हारी और मेरी—सभी की शोभा रह जाए और गेंद भी बाहर आ जाए।

भाइयों में इस प्रकार समझौते की बातचीत चल ही रही थी कि इतने में सामने से द्रोण आ पहुँचे। उनका श्याम शरीर, वीरतायुक्त मुखाकृति और लाल-लाल आंखों के तेज को देखकर राजकुमार सोचने लगे—ये कोई बड़े तेजस्वी पुरुष हैं। चलो, इनसे भी सलाह ले लें। यह सोचकर राजकुमार द्रोण के पास आये।

राजकुमारों को अपनी ओर आते देख द्रोण ठिठक गये। उन्होंने पूछा—राजकुमारो ! क्या बात है ?

राज०—हमारी गेंद कुंएं में गिर पड़ी है। सोच रहे हैं, उसे किस तरह निकालें ?

द्रोण—राजकुमारो ! बड़े आश्चर्य की बात है। आज तो गेंद पड़ी है, कल राजलक्ष्मी अगर संकट में पड़ जाय तो उसे कैसे निकालोगे ? तुम सामान्य कुल के नहीं, राजकुल में जन्में हो। तुम्हारे खेल में भी बड़ा रहस्य होना चाहिए।

राज०—महाराज, उपालंभ देने में तो हमने भी कसर नहीं रखी है। उसे निकालने का कोई उपाय हो तो बतलाओ।

द्रोण—ठीक है। हमारा काम केवल उपालंभ देना नहीं है। हम बिगड़ी बात को सुधारने वाले हैं। हम पाताल से भी पानी निकाल कर अपनी प्यास बुझा सकते हैं। इस गेंद को निकाल लेना क्या बड़ी बात है ? यह तो बड़ी ही आसानी से निकाली जा सकती है।

इतना कह कर द्रोण ने बोया या बरवाड़ा नामक एक घास मंगवाया। उसका बाण बनाया। उसका अग्र भाग नुकीला कर लिया गया।

तब द्रोण ने कहा—मैं भूतविद्या नहीं जानता और न इन्द्रजाल जानता हूं। शास्त्रविद्या से ही तुम्हारी गेंद बाहर निकाल देता हूं।

द्रोण ने एक बाण धीरे से आसानी से चलाया । वह बाण गेंद में लगा और उसमें चुभ गया । उसके बाद उन्होंने दूसरा बाण चलाया और वह पहले बाण में छिद गया । इसी तरह उन्होंने कई बाण एक-दूसरे में छेद दिये । बाणों की ऊपर तक लम्बी कतार-सी बन गई । अन्त में सब से ऊपर वाले बाण को पकड़ कर उठाया तो गेंद भी उठ आई और बाहर आ गई ।

यह करामात देख कर रामकुमारों को बड़ा आश्चर्य हुआ । वे कहने लगे—गेंद तो और भी मिल सकती थी पर आप सरीखे गुरु और नहीं मिल सकते ।

द्रोण की चतुराई पर सभी राजकुमार मुग्ध हो गए और पूछने लगे—महाराज ! आपका नाम क्या है ? आप कहां रहते हैं ?

द्रोण ने कहा—तुम्हें नाम से क्या प्रयोजन है ? यह घटना ज्यों की त्यों सुना दोगे तो पितामह भीष्म तुम्हें मेरा नाम बतला देंगे । मैं कृपाचार्य के यहां ठहरा हूं ।

राजकुमार बड़ी उत्कंठा के साथ पितामह के पास पहुंचे । पितामह ने उन्हें देखकर कहा—राजकुमारो ! आज तुम्हारे मुख पर इतनी चंचलता क्यों है ? क्या कोई नवीन विद्या सीखी है ?

राजकुमारों ने कहा—नहीं, नवीन विद्या तो नहीं सीखी, अद्भुत विद्या का निधान आया है ।

भीष्म—वह कौन है ?

राज०—यही पूछने तो आपके पास आये हैं कि वह कौन है ?

भीष्म—आश्चर्य है, तुम्हें विद्या का निधान मिला है। मुझे उसके दर्शन भी नहीं हुए और पूछते हो मुझसे !

राज०—उन्होंने कहा है कि पितामह मेरा नाम वतला देंगे ।

यह कह कर राजकुमारों ने गेंद वाली सारी घटना उन्हें सुनाई और उसे निकाल देने के चातुर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की ।

सारी घटना का वर्णन सुनकर पितामह भीष्म समझ गये । उन्होंने कहा—वत्स ! वह द्रोण है । ऐसी अपूर्व विद्या का जानकार द्रोण के सिवाय और कोई नहीं हो सकता । मैं उसकी तलाश में था । खुशी है कि वह मिल गया ।

भीष्म ने द्रोण को आदर के साथ राजदरवार में बुलाने का निश्चय किया । जब द्रोण के पास बुलौवा पहुँचा तो कृपाचार्य कहने लगे—सूर्य चाहता था कि मैं अंधकार में छिपा रहूं लेकिन यह कैसे हो सकता था ? आखिर वह शीघ्र ही चमक उठा और उसकी अभ्यर्थना होने लगी ।

द्रोण ने कहा—सब आपका अनुग्रह है । समय पर आपने मेरी सहायता की है । मैं आपकी कृपा को भूलने की कृतघ्नता नहीं करूंगा ।

एक फला-फूला आम्र-वृक्ष अगर कहता है कि माली

का मेरे ऊपर क्या एहसान है? मैं बीज से पैदा हुआ और धूप से बढ़ा हूं तो उसका कहना सही नहीं होगा। गर्मी के दिनों में माली ने जल न सींचा होता और उसकी रक्षा न की होती तो क्या वह बड़ा हो सकता था? क्या वह फल–फूल देने की स्थिति में आ सकता था?

हे कूप, अब मैं प्रकट हुआ हूं सो यह तुम्हारी ही कृपा है। तुमने मुझे अपने यहां आश्रय दिया है। तुम्हारा यह उपकार मैं साधारण नहीं मानता।

कितनी कृतज्ञता है? आजकल कृतघ्नता का बाजार गर्म है। लोग गुण–चोर हो रहे हैं। उपकारी का उपकार करना तो दरकिनार, लोग अपकार करने से भी नहीं चूकते। मित्रो! आप आज बड़े हो गये हैं। आपके हाथ-पैर काम करने लगे हैं। जब शिशु थे और अशुचि में लिपटे रहते थे, उस समय आपकी रक्षा किसने की थी? किसने तुम्हारा पालन-पोषण किया है? कुछ ध्यान है? अगर यह बात भूल गये हो तो तुम्हारे सरीखा कृतघ्न संसार में और कौन होगा?

कृपाचार्य ने कहा—आप चिउंटी पर पंसेरी का बोझ लाद रहे हैं, ऐसा न कीजिए और अब विलम्ब करने का समय नहीं है। राज–दरबार में पधारिए। फिर बातें होती रहेंगी।

द्रोण पालकी पर सवार होकर राजदरबार में आये तो भीष्मजी ने खड़े होकर उनका सत्कार किया। वह ऐसे प्रेम से मिले, मानों बहुत समय के बिछुड़े सहोदर से मिले

हों। योग्य आसन देकर बिठलाया और कुशल-समाचार पूछने के पश्चात् कहा—विप्रवर ! आपका यहां कैसे आना हुआ ? इतने दिनों तक आप कहां थे ? अकस्मात् कैसे पधारे ? आपके गुणों से तो मैं पहले ही परिचित हो चुका हूं, शरीर से परिचय आज हुआ है ।

भीष्म की सज्जनता देखकर द्रोण अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—सूर्य से क्या छिपा रहता है ? आप सरीखे महान् तेजस्वी सूर्य से मैं भी किस प्रकार छिपा रह सकता था ! नदी के लिए समुद्र के सिवाय और कोई गति नहीं है। विद्वान् के लिए आप जैसे विद्यासागर ही आश्रय-भूत हैं। मैं इतने दिन कहां रहा, यह न पूछिए। इतने दिनों की स्थिति आपके सामने प्रकट करने से नीति का उल्लंघन होता है। अपना अपमान प्रकाशित करना योग्य नहीं है। नीति कहती है—

वञ्चनं चापमानञ्च मतिमान्न प्रकाशयेत् ।

राजन्, मैंने बड़ा अपमान सहन किया है और बहुत कष्ट उठाये हैं। उन्हें कहने में जीभ रुक जाती है।

भीष्म—विद्वद्वर, अपने मन की बात आप न कहेंगे तो मेरे चित्त में बड़ी दुविधा रहेगी। अगर बहुत अनुचित न समझें और कहने में दुःख न हो तो मैं सब बात अवश्य सुनना चाहता हूं।

द्रोण—महाराज ! अपनी बात आत्मा के सामने प्रकट करने में कोई हानि नहीं है। मैं आपको अपनी आत्मा

मानता हूं। आप धर्मात्मा हैं। धर्मात्माओं के सामने अपनी बात प्रकट न की जाएगी तो फिर कहां प्रकट की जाएगी ? इसलिए आपके सामने कोई बात मैं नहीं छिपाऊंगा।

इसके बाद द्रोण ने अपने मित्र द्रुपद की सारी कहानी कह सुनाई। अन्त में कहा—द्रुपद ने मेरा घोर अपमान किया है। मैं उस अपमान को सहन नहीं कर सकता। कोई वीर तीर मारता तो मैं सह लेता, मगर वचनों के तीर मेरे लिए असह्य हो गए हैं। वे मेरे कालेज में अब भी ज्यों के त्यों चुभे हैं।

वास्तव में द्रोण का कहना सर्वथा सत्य हैं। तीर के घाव तो थोड़े दिनों की चिकित्सा से भर जाते हैं, मगर वचन– वाणों का घाव नहीं भरता। वचन-बाण बड़े दारुण होते हैं। शास्त्र में कहा है—

वाचा दुरुक्तारिण दुरुद्धराणि
वैराणुबन्धाणि महाभयाणि।

लोहे के तीर चुभ जाएं तो निकाले जा सकते हैं। उनका घाव भी मिट जाता है लेकिन वचन रूपी तीर एकदम असह्य होते हैं। वे जव चुभ जाते हैं तो उनका निकलना वहुत कठिन होता है। वे वैर की परम्परा वढ़ाते हैं और संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए भलीभांति सोच–विचारे विना मुंह से कोई शब्द नहीं निकालना चाहिए। विना विचारे वोले हुए शब्द वड़े-वड़े अनर्थ उत्पन्न करते हैं।

भीष्म ने कहा—वुद्धिमन्, आप द्रुपद के वचनों से

इतने अधीर क्यों हो गए ? आप तो विवेकवान् विद्वान् व्यक्ति हैं। आपको क्षमा रखनी चाहिए थी। अपमान के प्रतिशोध के लिए कोई प्रण तो नहीं किया है ?

द्रोण—महाराज, कुछ भी हो, प्रण तो कर चुका हूं। मैंने प्रण किया है कि—'मैं अपने शिष्यों द्वारा पकड़वाकर तुझे मंगवाऊंगा और तू मेरे चरणों में गिरकर कहेगा कि आप मेरे मित्र हैं और आधा राज्य आपका है' तब मैं उसे छोड़ूंगा। अब ऐसा किये बिना मेरे हृदय को शांति नहीं।

भीष्म—महाराज, यह आपने अच्छा नहीं किया। ऐसा करने से आत्मा को शांति नहीं मिलती। इससे तो वैर की परम्परा ही बढ़ती है।

वास्तव में भीष्मजी का कथन सोलह आना सत्य है। विद्रोह से या लड़ाई—झगड़े से आज तक किसी को शांति नहीं मिली और न कभी मिल ही सकती है। कई-एक लड़ाई प्रेमी गीता का साक्षी देते हैं—

> हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं,
> जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
> तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय !
> युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालने की मैं बहुत आवश्यकता समझता हूं कि शांति हिंसा से मिलती है या अहिंसा से ? मगर अभी तो इतना ही कहता हूं कि हिंसा से तीन काल में भी शांति नहीं मिल सकती है। जगत् अहिंसा की बदौलत ही टिका है।

मैं वैष्णव भाइयों से पूछता हूं—आप गीता को धर्म-शास्त्र मानते हैं या समाजशास्त्र मानते हैं ? अगर गीता धर्मशास्त्र है तो उसमें से लड़ाई-झगड़े निकाल कर उसे समाजशास्त्र की श्रेणी में क्यों खींचते हैं ?

भीष्म ने फिर कहा—सूर्य का उदय होता है तो अस्त भी होता है। आज राजा द्रुपद का तेज बढ़ा हुआ है और कभी न कभी घट भी जाएगा। अतएव आपका प्रण पूर्ण होना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन इससे आपको वास्तविक शांति नहीं मिल सकती। अच्छा यही है कि आप अपना प्रण छोड़ दें।

द्रोण—आप सच कहते हैं महाराज, पर हृदय नहीं मानता। ब्रह्म-प्रण अब पलट नहीं सकता। द्रुपद को एक बार नीचा दिखलाना ही होगा।

भीष्म—जैसी आपकी इच्छा। अब काम की बात करें। मैं आपको राजकुमारों का विद्या—आचार्य नियुक्त करना चाहता हूं। इस कार्य के लिए आपकी खोज में था। आप स्वीकार करते हैं ?

द्रोण—अत्यन्त प्रसन्नता के साथ। इन राजकुमारों से अधिक उपयुक्त पात्र और कौन मिलेगा, जिन्हें देने से मेरी विद्या सार्थक हो।

भीष्म—तो आज से आप आचार्य हुए। ये बालक आपके हैं। इन्हें उच्च विद्या सिखलाइए।

शुभ मुहूर्त्त में पाण्डव और कौरव आचार्य द्रोण को सौंप दिये गये।

७ : पाण्डव-कौरवों की उच्च शिक्षा

शिष्य कुंवरों को बनवाये,
विद्यागुरु धन्य भाग पाये।
पढ़े सब विनयभाव लाये,
प्रतिज्ञा पूरी करने का।
अर्जुन से बोल मिले नीका,
मेरी जान धरम चित्त धर रे।

पाण्डव और कौरव आचार्य द्रोण से विद्या ग्रहण करने लगे। ऊपर जो पद्य उद्धृत किया गया है, उसमें कहा है--'धरम चित्त धर रे।' प्रश्न होता है कि क्या विद्या और धर्म में कोई संबन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विद्या और धर्म का संबन्ध बहुत घनिष्ठ है। जब से दोनों को अलग-अलग समझा जाने लगा है तभी से समाज का पतन आरम्भ हुआ है। आज के बहुत से विद्वान और वैज्ञानिक धर्म से परहेज करते जान पड़ते हैं। यही कारण है कि उनसे विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी भी धर्म से अनभिज्ञ और धर्म के प्रति अरुचि रखने वाले हैं। उनमें से बहुतेरे तो नास्तिक भी हो जाते हैं। प्राचीन काल में विद्या का

मैं वैष्णव भाइयों से पूछता हूं—आप गीता को धर्मशास्त्र मानते हैं या समाजशास्त्र मानते हैं? अगर गीता धर्मशास्त्र है तो उसमें से लड़ाई-झगड़े निकाल कर उसे समाजशास्त्र की श्रेणी में क्यों खींचते हैं?

भीष्म ने फिर कहा—सूर्य का उदय होता है तो अस्त भी होता है। आज राजा द्रुपद का तेज बढ़ा हुआ है और कभी न कभी घट भी जाएगा। अतएव आपका प्रण पूर्ण होना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन इससे आपको वास्तविक शांति नहीं मिल सकती। अच्छा यही है कि आप अपना प्रण छोड़ दें।

द्रोण—आप सच कहते हैं महाराज, पर हृदय नहीं मानता। ब्रह्म-प्रण अब पलट नहीं सकता। द्रुपद को एक बार नीचा दिखलाना ही होगा।

भीष्म—जैसी आपकी इच्छा। अब काम की बात करें। मैं आपको राजकुमारों का विद्या—आचार्य नियुक्त करना चाहता हूं। इस कार्य के लिए आपकी खोज में था। आप स्वीकार करते हैं?

द्रोण—अत्यन्त प्रसन्नता के साथ। इन राजकुमारों से अधिक उपयुक्त पात्र और कौन मिलेगा, जिन्हें देने से मेरी विद्या सार्थक हो।

भीष्म—तो आज से आप आचार्य हुए। ये बालक आपके हैं। इन्हें उच्च विद्या सिखलाइए।

शुभ मुहूर्त्त में पाण्डव और कौरव आचार्य द्रोण को सौंप दिये गये।

७ : पाण्डव-कौरवों की उच्च शिक्षा

शिष्य कुंवरों को बनवाये,
विद्यागुरु धन्य भाग पाये ।
पढ़े सब विनयभाव लाये,
प्रतिज्ञा पूरी करने का ।
अर्जुन से बोल मिले नीका,
मेरी जान धरम चित्त धर रे ।

पाण्डव और कौरव आचार्य द्रोण से विद्या ग्रहण करने लगे । ऊपर जो पद्य उद्धृत किया गया है, उसमें कहा है-- 'धरम चित्त धर रे ।' प्रश्न होता है कि क्या विद्या और धर्म में कोई संबन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विद्या और धर्म का संबन्ध बहुत घनिष्ठ है । जब से दोनों को अलग-अलग समझा जाने लगा है तभी से समाज का पतन आरम्भ हुआ है । आज के बहुत से विद्वान और वैज्ञानिक धर्म से परहेज करते जान पड़ते हैं । यही कारण है कि उनसे विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी भी धर्म से अनभिज्ञ और धर्म के प्रति अरुचि रखने वाले हैं । उनमें से बहुतेरे तो नास्तिक भी हो जाते हैं । प्राचीन काल में विद्या का

प्रयोजन समझा जाता था—विमुक्ति । कहा भी है ।

सा विद्या या विमुक्तये ।

अर्थात् – जिससे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बंधनों का विनाश हो, वही सच्ची विद्या है। जिस विद्या के कारण अपने हाथ, पैर, कान आंख आदि अंग स्वतंत्रतापूर्वक कार्य न कर सकें, वह विद्या गुलामी की विद्या है। उसे अविद्या कहना ही अधिक उपयुक्त है । कौरव और पाण्डवों को ऐसी विद्या नहीं पढ़ाई जाती थी ।

कौरव और पाण्डव बड़े विनीत शिष्य थे। विनम्रता पूर्वक गुरु से अध्ययन करते थे और इस कारण गुरु भी प्रसन्नता के साथ उनके सामने अपना खजाना खोल दिया करते थे। कौरव और पाण्डव अपने विद्यागुरु को माता-पिता से भी अधिक समझते थे । आप कह सकते हैं, यह कैसे ! सुनिये । किसान कपास पैदा करता है। कपास की यदि रूई, सूत और अन्त में कपड़ा न बनाया जाय तो कपास पैदा करने से क्या लाभ है ? यद्यपि सारी दुनिया किसान की आभारी है फिर भी कपास से कपड़ा बनाये बिना आप अपनी लाज नहीं रख सकते। इसी प्रकार माता-पिता बालक को कपास की तरह जन्म देते हैं । विद्यागुरु उनमें संस्कार करके वस्त्र के रूप में ले आते हैं ।

यद्यपि कौरव और पाण्डव धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र हैं, उन्होंने इन्हें जन्म दिया है, परन्तु द्रोण, ने इन्हें विद्या में प्रवीण किया है और उनकी रग-रग में धर्म भर दिया है । इसलिए द्रोण इनका सच्चा पिता है ।

एक समय की बात है। द्रोण अपने आसन पर विराजमान थे। उनके एक सौ पांच शिष्य सामने उपस्थित थे। द्रोण ने कहा—मेरी एक प्रतिज्ञा है। जो शिष्य अपने प्राणों की परवाह न करता हो और मेरे लिए सर्वस्व देने को तैयार हो, वह प्रतिज्ञा पूरी करने का वचन दे।

गुरुजी की बात सुनकर सब राजकुमार सोच-विचार में पड़ गए। वे सोचने लगे—गुरुजी का क्रोध बड़ा उग्र है। वह जिस बात को पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं हैं। कौन जाने, इनकी क्या प्रतिज्ञा है? पूरी करने का वचन दे दिया और पूरी न कर सके तो विश्वासघात होगा। ऐसा सोच-कर सभी राजकुमार चुपचाप खड़े थे कि अर्जुन आगे आ गया। उसने कहा- गुरुवर! आपने विद्या का दान देकर हमारा संस्कार किया है, मानों हमें पुनर्जन्म दिया है। मैंने आपको गुरु मानकर अपना मस्तक आपके चरणों में झुकाया है। अतः आपके कार्य के लिए मैं अपने प्राणों की परवाह नहीं करता। मैं जानता हूं कि प्रथम तो आप ऐसा कार्य बतलाएंगे ही नहीं, जो मेरे लिए कठिन हो फिर अगर बतलाएंगे भी और उसे पूर्ण करने में मेरी मृत्यु हो जायगी तो आप प्रसन्न न होंगे। कदाचित् प्रसन्न हुए तो मैं निहाल हो जाऊंगा। अपने विद्यागुरु की प्रसन्नता के लिए मैं सब कुछ त्यागने को तैयार हूं।

अर्जुन को यह वाणी सुनकर द्रोण गद्गद् हो गए। उनकी प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होंने अर्जुन को गले से लगा कर कहा—वत्स, अश्वत्थामा मेरा पुत्र नहीं, तू मेरा सच्चा पुत्र है।

दूसरे राजकुमार सोचने लगे—अर्जुन ने बाजी मार ली। अच्छा होता, अगर हमने पहले वचन दे दिया होता !

जिसके सामने आपने मस्तक झुका दिया, उसके लिए त्याग करना कोई बड़ी बात नहीं होनी चाहिए। उनका काम पड़ने पर सब प्रकार का उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जो सच्चा शिष्य होगा, वह अपने गुरु के लिए सभी कछ त्यागने को तैयार रहेगा।

अर्जुन के वचनों से द्रोणाचार्य को संतोष हो गया। वे जानते थे कि अर्जुन समर्थ शिष्य है और इसके द्वारा मेरा प्रण अवश्य पूर्ण हो जाएगा। वह धीर, वीर और गंभीर है। यही सब विद्याओं को धारण करने का योग्य-पात्र है। अच्छा हुआ कि औरों ने वचन नहीं दिया।

अब द्रोणाचार्य अपने शिष्यों को शिक्षा देते हैं—

मर्म पढ़ने का पहचानो,
रक्षा में क्षात्रधर्म जानो।
परस्पर प्रेमभाव ठानो।
सभी जन यश तुम्हारा गावें,
गुरुजन सुन कर सुख पावें।

मेरी जान धरम चित्त धर रे।

द्रोणाचार्य अपने सब शिष्यों को शिक्षा देने लगे—मैं अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहता। पर मैं पूछता हूं—कि विद्या सीखने का प्रयोजन क्या हैं ? किस उद्देश्य को सामने रखकर तुम विद्या ग्रहण करने में

परिश्रम कर रहे हो ?

बालक जब प्राथमिक शिक्षा पूरी करके माध्यमिक शिक्षा के योग्य हो, तभी उससे पूछना चाहिए कि तुम किस उद्देश्य से विद्या ग्रहण कर रहे हो ? धर्म पालने के लिए या पेट भरने के लिए ? पेट भरने के लिए विद्या पढने वाला बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं। मनुष्य को अपना ध्येय ऊंचा रखना चाहिए और निश्चित रखना चाहिए। जो मनुष्य अपने जीवन का ध्येय निश्चित कर लेता है, वही जीवन में सफलता पाता है। जिसका लक्ष्य ही निश्चित नहीं है, जो चलता रहता है पर यह नहीं जानता कि उसे कहां पहुंचना है, वह चलकर क्या करेगा ? ऐसे मनुष्य की दशा दया योग्य है।

विद्या पढ़ने का उद्देश्य धर्म के साथ संबंध स्थापित करना है। इस उद्देश्य को सामने रखकर पढ़ी हुई विद्या जीवन को उन्नत बनाती है।

मित्रो ! मैं आपसे पूछता हूं—आपको धर्म से रूखी रोटी मिले और अधर्म से ताजा और बढ़िया भोजन मिले तो आप किसे पसन्द करेंगे ? एक आदमी का शरीर तपस्या के कारण सूख गया और दूसरे का सूजन के कारण फूल गया है। इन दोनों में से आपको कौन-सा शरीर पसंद आएगा ? आप यही कहेंगे कि सूजन से फूला शरीर किस काम का ? तपस्या से सूखा शरीर ही प्रशस्त है। इसी प्रकार अधर्म से राज्य मिलता हो तो वह भी किस काम का ? आखिर तो वह आत्मा के पतन का ही कारण होगा ! इसके विपरीत अगर धर्म से रूखी-सूखी रोटी ही मिले तो वह

अच्छी है । इससे आत्मा का विकास ही होगा—ह्रास नहीं ।

एक ही कुंए का जल आम, जाम और नीम को पिलाया जाता है । पिलाया जाने वाला जल और पिलाने वाला माली एक होने पर भी आम अपने स्वभाव के अनुसार उस जल को परिणत कर लेता है और नीम अपने स्वभाव के अनुसार । इसी प्रकार विद्या और विद्यागुरु एक होने पर भी भिन्न-भिन्न शिष्य अपने स्वभाव के अनुसार विद्या को भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत कर लेते हैं । द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को समान भाव से शिक्षा दी, लेकिन कौरवों के नीम की तरह उसे अपने स्वभाव के अनुसार परिणत किया । पाण्डवों ने उसी विद्या में से कुछ और ही रस खींचा ।

आचार्य द्रोण ने सब छात्रों को एकत्र करके विद्या पढ़ने का उद्देश्य समझाया । उन्होंने कहा—'हे शिष्यो ! अब तुम अज्ञात नहीं हो । तुम एक विद्या समाप्त करके दूसरी विद्या प्राप्त करने के लिए तैयार हुए हो । अब तुम्हें विद्या पढ़ने का मर्म जान लेना चाहिए । तुम सब क्षत्रिय हो किन्तु क्षत्रियोचित कर्म करने से ही सच्चे क्षत्रिय कह-कहलाओगे ।'

जैन सिद्धान्त में कहा है—

कम्मुणा वम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो ।
कम्मुणा वइसो होई, सुद्दो हवई कम्मुणा ।।

अपने-अपने कर्त्तव्य कार्य से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र होते हैं । समाज के सभी आवश्यक कार्यों की समुचित रूप से पूर्ति करनें के लिए वर्णव्यवस्था बड़े काम की चीज थी । लेकिन आज लोगों ने अपने-अपने कर्त्तव्य व्यवहार का परित्याग कर दिया है और इसलिए वर्णशंकरता फैल गई है । आज ब्राह्मण-क्षत्रिय का, क्षत्रिय-वैश्य का और वैश्य-क्षत्रिय आदि का कार्य करने लगे हैं । इसी कारण समाज में गड़बड़-गोटाला मचा है । इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि क्षत्रिय सदा द्वन्द्व ही मचाता रहे और ब्राह्मण कभी निडर ही न हो बल्कि सबको अपने-अपने धर्म का पालन सर्वप्रथम करना चाहिए । गीता में भी कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

हर हालत में अपने धर्म का पालन करना ही श्रेयस्कर है । कदाचित् पर-धर्म अधिक लाभदायक मालूम होता हो तो भी उसका आचरण करने की अपेक्षा अपने धर्म का आचरण करना ही उत्तम है । अपनें धर्म का पालन करते हुए मृत्यु का आलिंगन करना पड़े तो वह कल्याणकारक है, मगर पर-धर्म भयंकर है ।

वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के विषय में यह बात कही गई है । कदाचित् किसी कारीगर को पांच रुपया रोज मिलता हो और अध्यापक को एक रुपया मिलना कठिन हो, तो क्या उसे पढ़ाने का काम छोड़ देना चाहिए ? नहीं । लेकिन आज बड़ा घोटाला चल रहा है । इसी कारण सर्वत्र वर्णसंकरता दिखाई देती हैं । कहना पड़ता है कि आज

भारतवर्ष की वर्णव्यवस्था लुप्त हो गई है और वर्ण संबंधी झूठा अभिमान ही शेष रह गया है ।

द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों से कहा—मैं आपको सभी विद्याएं सिखलाऊंगा । फिर भी आप क्षत्रिय हैं । आप को अपने कर्त्तव्य का ही पालन करना होगा ।

क्षतात् त्रायते–इति क्षत्रियः

अगर कोई सबल किसी निर्बल को सताता हो तो अपने प्राण जोखिम में डाल करके भी उसे बचाना आपका धर्म है । क्षत्रिय का धर्म यह नहीं है कि वह निर्बल को तलवार के घाट उतार दे ।

शिष्यो ! आप क्षत्रिय वीर हो और फिर विख्यात कुरुवंश के राजकुमार हो । अतएव आपको अपने कर्त्तव्य का पालन करने में, प्रजा के रक्षण और देश के उद्धार में तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । ऐसा अवसर आ सकता है कि कभी रुखा भोजन भी न मिले । कभी सोने के लिए बिछौना भी प्राप्त न हो और गुंडों को धर्म से विमुख तथा कर्त्तव्य से भ्रष्ट लोगों को—सब प्रकार की सुख–सामग्री प्राप्त हो । वे गुलछर्रे उड़ाते और चैन की बंशी बजाते हुए नजर आवें तो ऐसे समय में भी धर्म से च्यूत मत होना । ऐसे विषम समय में भी आप धर्म पर स्थिर रहेंगे तो आपका क्षात्र तेज अतिशय दीप्तिमान और अजेय हो जायगा, सारे संसार में यश फैल जायगा और हम गुरुजनों की भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ।

द्रोणाचार्य की शिक्षा सबने स्वीकार की । सब ने वचन दिया—"गुरुदेव ! हम लोग ऐसा ही करेंगे ।"

७ : ईर्ष्या की आग

आचार्य द्रोण ने जब कौरवों और पाण्डवों को विद्या-ध्ययन कराना आरम्भ किया तो उनके गुरुकुलों में एक और शिष्य प्रविष्ट हो गया था। उसका नाम कर्ण था। वास्तव में वह कुन्ती का पुत्र था—कुन्ती के उदर से उनका जन्म हुआ था, लेकिन जनमते ही उसका परित्याग कर दिया गया था। वह भाग्यवान् बालक किसी तरह अधिरथ नामक सूत के हाथ लग गया। उसने उसे अपनी पत्नी राधा के सुपुर्द कर दिया। अधिरथ और राधा को छोड़ यह रहस्य और किसी को ज्ञात नहीं था। वही इसके पिता और माता कहलाते थे।

कर्ण सभी राजकुमारों में प्रिय था। उसने अपने विशिष्ट गुणों के प्रभाव से ही सब का प्रेम सम्पादित किया। वह बड़ा ही बुद्धिमान और पराक्रमी था। नम्रता, वीरता और क्षमता आदि गुणों में उसकी बराबरी सिर्फ अर्जुन ही कर सकता था, दूसरा कोई भी नहीं। युधिष्ठिर और भीम आदि सभी पाण्डव उसके प्रति प्रेम रखते थे। मगर दुर्योधन कुटिल था ही, उसने सोचा—कर्ण बड़ा वीर और पराक्रमी है। इसके साथ मेरी घनिष्ठ मित्रता हो जाय और यह मेरे

वश में आ जाय तो मैं बड़ी सफलता और सरलता के साथ पाण्डवों की खबर ले सकूंगा। इस प्रकार विचार कर दुर्योधन मन ही मन प्रसन्न हुआ और कर्ण के साथ गहरी दोस्ती करने की चेष्टा करने लगा।

दुर्योधन इनको लख कर,
हृदय में अतिशय हरसाया।
सोचा—अब पाण्डुकुमारों से,
बदला लेने का दिन आया।
यह कर्ण वीर सामान्य नहीं,
यह बात दृष्टि में आती है।
होगा आगे यह बलशाली,
इसकी आकृति बतलाती है।
इसलिए अभी से यत्न करूं,
इसको निज ओर मिलाने का।
जो मद के कूट हैं उन्हें,
बस भस्मीभूत बनाने का।
यदि यह योद्धा मम वश,
मेरा साथी हो जाएगा।
तब दुर्योधन भी किस रोज,
निश्चय ही भूप कहलाएगा।

दुर्योधन सोचता है—यह मेरे हक में अच्छा अवसर है। कर्ण वीर है और इसकी क्रोधाग्नि बड़ी तीव्र है। अगर मैं इसे अपने अधीन बना सकूंगा तो पाण्डव अवश्य ही इसकी क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो जाएंगे। जान पड़ता है, प्रकृति मेरे ही पक्ष में है। प्रकृति मुझे ही राजा

बनाना चाहती है, नहीं तो यह सुन्दर विचार मेरे दिमाग में कैसे आता !

दुर्योधन कर्ण को अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न करने लगा। कर्ण के प्रति वह गहरा प्रेम प्रदर्शित करने लगा। वह कर्ण को पाण्डवों के विरुद्ध भी भड़काने लगा। कभी कहता—मित्र ! पाण्डव बड़े अभिमानी हैं। तुम्हें रथ (सूत) का लड़का समझ कर हल्की दृष्टि से देखते हैं। तुम्हारे असाधारण गुणों की उपेक्षा करते हैं। मैं तो तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हूं। तुम्हारा सम्मान करता हूं। वास्तव में गुण ही देखने चाहिए। लेकिन कोई चिन्ता की बात नहीं है। मैं तुम्हारे लिए प्राण भी दे सकता हूं।

कर्ण सोचने लगा—दुर्योधन बड़ा ही सहानुभूतिशील राजकुमार है। पाण्डवों का मेरे प्रति प्रकट में कोई दुर्व्यव-हार नहीं है, तथापि दुर्योधन के समान वे लोग आत्मीयता भी प्रकट नहीं करते। दुर्योधन का प्रेम सराहनीय है।

कर्ण ने प्रकट में कहा राजकुमार ! मैं आपका कृतज्ञ हूं। अगर आप मेरे लिए प्राण दे सकते हैं तो मैं भी आपके लिए इससे कम त्याग नहीं करूंगा।

कर्ण जल्दी ही दुर्योधन के कपट-जाल में फंस गया। मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि अगर कोई बड़ा आदमी किसी छोटे समझे जाने वाले के प्रति सहानुभूति और प्रेम दिखलाता है तो वह शीघ्र ही उसके वश में आ जाता है। दुर्योधन राजकुमार था। कर्ण उसके साथ प्रेम करने लगा।

धीरे-धीरे दोनों में प्रगाढ़ मित्रता हो गई। अब वे दो शरीर एक प्राण हो गये।

मित्रता करना बुरा नहीं है। परन्तु वही मित्रता सच्ची और हितकर है जो धर्म से व्याप्त हो। ऊपर से मित्रता का आडम्बर करना और भीतर से अपना स्वार्थ-सिद्ध करने के लिए कपट की छुरियां चलाना उचित नहीं है। ऐसी मित्रता एक प्रकार की धोखेबाजी है। खुले हुए कुंए से बचना आसान है किन्तु ढंके कुंए से बचना कठिन है। ढंके कुंए में कई-एक गिर जाते हैं और डूब मरते हैं।

कई लोग कहते हैं—'करने वाले के साथ नहीं करे उसका गुरु झूठा।' मगर कल्पना कीजिए, किसी ने आपको जहर दे दिया और उसके बदले में आपने भी उसे जहर दे दिया। ऐसी स्थिति में बुराई करने वालों में अगर पहला नम्बर उसका है तो दूसरा नम्बर आपका है या नहीं? अतएव वैर करने वाले के साथ वैर करने को उचित बत–लाने वाली नीति अपूर्ण नीति है। धर्म इसका समर्थन नहीं करता। धर्म का विधान है कि अपने साथ शत्रुता करने वाले को भी शत्रु मत समझो। यही नहीं, उसे भी अपना मित्र ही मानो और अवसर आने पर उसका भी उपकार करो।

पाण्डव इसी धर्म-पथ पर चलते थे। सब के प्रति उनके हृदय में प्रेम था।

पाण्डव नहिं वैरभाव करते,
अर्जुन विद्या में चित धरते।

अश्वत्थामाजी दाह करते,
पात्र–परीक्षा द्रोण ने कीनी ।
अर्जुन को लीना योग्य चीनी,
मेरी जान धर्म चित धर रे ।

पाण्डवों के मन में किसी के प्रति वैर-भावना नहीं थी। यह बात नहीं है कि वे दुर्योधन की चालों को समझते नहीं थे। जब से भीम को विष दिया गया और गंगा में बहाया गया, तभी से पाण्डव बहुत सतर्क रहते थे। दुर्योधन के प्रत्येक व्यवहार को वे बारीकी से देखते रहते थे। फिर भी वे कुछ बोलते नहीं थे और न अपना मन मैला होने देते थे। पाण्डव दृढ़ता से मानते थे कि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा और जब धर्म रक्षक होगा तो कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इस प्रकार सरल और निष्क–पट भाव से सभी पाण्डव विद्याध्ययन में लगे रहते थे।

अर्जुन सब से ज्यादा विनीत और गुरुभक्त था। उसका तेज लगातार बढ़ता ही चला जाता था। धनुष-बाण की विद्या में वह असाधारण था। बहुत बढ़िया निशाना तकता और लक्ष्य को वेधे बिना न रहता। इसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी वह सबसे आगे बढ़ गया।

बुद्धिमान और विनीत शिष्य की ओर शिक्षक स्वतः अधिक आकर्षित हो जाता है। अर्जुन के गुणों को देखकर आचार्य द्रोण का उस पर विशेष प्रेम हो गया। परन्तु अपने पिता का अर्जुन पर विशेष प्रेम देखकर उनके पुत्र अश्वत्थामा के मन में ईर्ष्याभाव उत्पन्न हुआ। वह विचार करने लगा—पिताजी पक्षपात करते हैं। उनका प्रेम अ

पर ज्यादा और मुझ पर कम है। कुशल द्रोणाचार्य समझ गए कि अश्वत्थामा के मन में ईर्ष्या पैदा हुई है।

एक दिन अश्वत्थामा को उदास बैठा देख द्रोण ने पूछा—पुत्र, आज उदास क्यों हो ?

अश्व०—क्या आपको मेरी उदासी का कारण ज्ञात नहीं है ? आप बहुत पक्षपात में पड़ गए हैं। अर्जुन को तो अच्छी-अच्छी विद्याएं सिखलाते हैं और वह इतना चतुर हो गया है। मैं आपका उत्तराधिकारी पुत्र हूं, फिर भी वैसी विद्याएं मुझे नहीं सिखलाते। यही कारण है कि मैं अर्जुन से पीछे रहता हूं। क्या आपको अपने बेटे का भी विचार नहीं आता ?

द्रोणाचार्य—पुत्र, अर्जुन योग्य-पात्र है। मेरे लाख प्रयत्न करने पर भी विद्या तो योग्य-पात्र को ही आ सकती है और ईर्ष्या ही तुझे अधिक नीचे गिराती है। ईर्ष्या को छोड़ कर अपनी त्रुटि देख और उसे दूर करके हृदय को स्वच्छ बना। ऐसा करने से तू भी किसी दिन अर्जुन सरीखा योग्य पात्र बन जाएगा।

अश्वत्थामा रोष के साथ बोला—अर्जुन योग्य-पात्र है और मैं अपात्र हूं! लेकिन यह निर्णय आपने कैसे कर लिया ?

द्रोणाचार्य—अच्छा, किसी दिन परीक्षा कर बतलाऊंगा।

कुछ दिन बीत जाने के बाद आचार्य द्रोण ने एक बार अर्जुन और अश्वत्थामा को बुलाया। अर्जुन को संकड़े

मुंह का और अश्वत्थामा को चौड़े मुंह का एक–एक घड़ा दिया और कहा—इसमें जल भर कर ले आओ। जो पहले भर लाएगा, वही तुम दोनों में मेरा सच्चा पुत्र–शिष्य होगा।

यह सुन कर अश्वत्थामा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—मेरे उलाहने का पिताजी पर प्रभाव पड़ गया है। इसी कारण उन्होंने मुझे चौड़े मुंह का और अर्जुन को संकरे मुंह का घड़ा दिया है। आज अर्जुन को नीचा दिखलाने का अच्छा अवसर है।

अर्जुन का हृदय तुच्छ नहीं था—स्वच्छ था। उसे ईर्ष्या हो सकती थी कि आचार्य ने अपने पुत्र को चौड़े मुंह का घड़ा देकर पक्षपात किया है। परन्तु उसने ऐसा नहीं सोचा। उसे विश्वास था कि गुरुजी सोच-समझकर ही कार्य करते हैं।

अर्जुन ने यह भी सोचा—जल भर लाने का काम साधारण नौकर भी कर सकता था लेकिन गुरुजी ने आज यह काम मेरे सुपुर्द किया है तो इसमें कोई रहस्य होना चाहिए। रहस्य यही जान पड़ता है कि आज मेरे वरुण-वाण की परीक्षा है।

दोनों जल भरने के लिए दौड़े। अश्वत्थामा सोचता जाता था कि अर्जुन को आज अवश्य हराऊंगा। मैं तीन चक्कर काट लूंगा तब कहीं उसका घड़ा भर पाएगा। उसे कल्पना ही नहीं आई कि पिताजी आज वरुण–वाण की परीक्षा ले रहे हैं!

अश्वत्थामा सरोवर की ओर भागा। अर्जुन ने घड़े के भीतर एक ऐसा वरुण-बाण लगाया कि घड़ा तत्काल भर गया। विद्या से काम जितनी जल्दी होता है, हाथ से उतनी जल्दी नहीं होता। अश्वत्थामा जल भर ही रहा था कि अर्जुन भरा हुआ घड़ा लेकर गुरुजी के पास आ गया। पीछे-पीछे अश्वत्थामा भी आ गया। उसने घड़ा लाकर रख दिया। वह मन ही मन खुश हो रहा था कि मैं घड़ा भर लाया हूं और अर्जुन ने ढोंग किया है। अभी इसकी पोल खुल जायगी। वह कहने लगा—पिताजी ! अर्जुन घड़े में बाण मारकर वापिस लौट आया है और मैं घड़ा जल से भर लाया हूं। इनके घड़े को देख तो लीजिए, भरा है या खाली है !

द्रोणाचार्य उठे। उन्होंने घड़े को देखा तो घड़ा जल से भरा हुआ था। तब वह अश्वत्थामा से बोले—पुत्र ! तू भी उठ कर आ घड़े को देख ले कि भरा है या खाली है।

अश्वत्थामा का चेहरा फीका पड़ गया। वह कहने लगा—इन्होंने वरुण-बाण से घड़ा भरा है और मैंने सरोवर के जल से भरा है !

द्रोण ने कहा—पुत्र, मैंने कब कहा था कि वरुण-बाण से मत भरना। यह तो बुद्धि की परीक्षा थी। तू भी ऐसा ही करता तो कौन रोकता ?

अश्वत्थामा को बहुत दुःख और पश्चात्ताप हुआ। फिर भी उसके हृदय से ईर्ष्याभाव दूर नहीं हुआ। वह उल्टा

पाण्डवों को अपना शत्रु समझने लगा। दुर्योधन की कूटनीति भीतर ही भीतर काम कर रही थी। अश्वत्थामा को अपनी ओर मिलाने का भी उसे मौका मिल गया। वह अश्वत्थामा के प्रति विशेष अनुराग दिखलाने लगा।

अर्जुन का हृदय सरल था। उसके दिल में किसी के प्रति डाह या द्वेष नहीं था। वह दिनोंदिन विद्या में निपुण होता गया।

द्रोणाचार्य ने अपने सभी शिष्यों से एक दिन कहा—हे शिष्यो ! मेरे शिक्षा देने का और तुम्हारे शिक्षा लेने का उद्देश्य जगत् का कल्याण करना होना चाहिए। इस शस्त्रविद्या का प्रयोजन यह नहीं है कि निर्दोष को मारने के लिए या गरीब को सताने के लिए इसका प्रयोग किया जाय। शस्त्रों की उपयोगिता दीन-दुखिया की रक्षा करने में ही है। जिसके दिल में दया नहीं होती, जिसका हृदय निष्ठुर होता है, वह निर्बल को सताने में भी संकोच नहीं करता। वह 'मारे और बोलने न दे' की कहावत चरितार्थ करता है। किन्तु हे पुत्रो ! मैं तुम से कहता हूं कि तुम लोग ऐसा मत करना। अगर तुमने मेरी बात मानी तो सब मिलकर इस संसार को शांति का आगार बना दोगे। अगर तुम मेरे सच्चे शिष्य हो तो मेरी शिक्षा को कभी मत भूलना और देखो, विद्या विनय से आती है। जितना अधिक विनय भाव तुम में होगा, उतनी ही अधिक विद्या तुम ग्रहण कर सकोगे।

इस प्रकार द्रोणाचार्य अर्जुन, अश्वत्थामा आदि अपने

शिष्यों को शिक्षा दे रहे हैं और शिष्य विनयपूर्वक शिक्षा ले रहे हैं।

एक दिन सभी शिष्यों की परीक्षा का अवसर आया। द्रोणाचार्य अपने सब शिष्यों को साथ लेकर यमुना के तट पर गये। शिष्यों के मनोविनोद का यह आयोजन था। सभी शिष्य इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहे थे और द्रोण स्नान करने के लिए पानी में उतरे। स्नान करते समय उन्हें एक ग्राह ने पकड़ लिया। द्रोणाचार्य तो शक्तिशाली थे और अपने आपको छुड़ा सकते थे, लेकिन उन्होंने शिष्यों की परीक्षा का यह अच्छा अवसर समझा। वह चिल्लाए—'दौड़ो, जल्दी दौड़ो। मुझे ग्राह ने पकड़ लिया है।'

सभी शिष्य दौड़ कर किनारे के पास आये और सोचने लगे—गुरुजी को किस प्रकार छुड़ावें ? कहीं ऐसा न हो कि पानी में घुसने पर हमें भी ग्राह पकड़ ले ! इतने में ही अर्जुन आगे बढ़ा। उसने अपने धनुष पर पांच बाण चढ़ाए और तत्काल ऐसी कुशलता से बाण चलाये कि गुरुजी के लगे और ग्राह उन्हें छोड़ कर भाग गया।

द्रोणाचार्य पानी से बाहर आये। उन्होंने कहा—पुत्रो! मैंने तुम सबको एक सरीखा बोध दिया था और इस समय सभी को आवाज दी थी। लेकिन तुम सब में से किसी और ने मुझे नहीं छुड़ाया, अकेले अर्जुन ने ही मुझे क्यों छुड़ाया ?

इतना कह कर उन्होंने अर्जुन से कहा—पुत्र ! तू

मेरा सच्चा शिष्य है । यदि तू न होता तो यह पृथ्वी द्रोण-रहित हो जाती । तूने मेरे प्राण बचाये हैं ।

अर्जुन ने कहा—गुरुजी ! इसमें मेरा क्या है ? यह विद्या तो आपकी ही दी हुई है ? आपकी विद्या से आपका अनमोल जीवन बच गया तो इसमें प्रशंसा की बात ही क्या है ?

द्रोण—पुत्र, यही तो तेरी विशेषता है । विद्या मैंने सिखलाई थी परन्तु तूने इतने हल्के हाथ से बाण चलाये कि जिनसे मेरा पैर तो बच जाय और ग्राह छोड़कर भाग जाय, यह तेरी चतुराई और बुद्धिमत्ता है । विद्या तो मैंने इन सभी को दी है, पर और किसी ने रक्षा नहीं की, सिर्फ तूने ही की । इसी से कहता हूं कि इस समय तू ही मेरा प्राण-रक्षक बना है ।

मित्रो ! जरा इस बात पर ध्यान दो । अर्जुन कहते हैं—आपकी रक्षा का श्रेय मुझे नहीं है, क्योंकि आपकी दी हुई विद्या से ही आपकी रक्षा हुई है । द्रोणाचार्य कहते हैं—नहीं, तुमने मेरी रक्षा की है । मेरी दी हुई विद्या से मेरी रक्षा हुई होती तो दूसरे शिष्य रक्षा क्यों नहीं करते ? विद्या तो सभी को समान रूप से दी गई है । अब प्रश्न होता है कि वास्तव में रक्षा किसने की है ? अर्जुन अपना अहंकार त्याग कर विद्या के निमित्त कारण गुरु को महत्त्व दे रहे हैं और द्रोणाचार्य विद्या के उपादान कारण अर्जुन को महत्त्व दे रहे हैं । इसी में दोनों का प्रेम अवस्थित है । इसके विपरीत अहंकार के वश होकर अगर अर्जुन कहते

लगता—'महाराज, मेरा उपकार मानिए कि मैंने आपके प्राण बचा लिए हैं! और द्रोण कहते कि—'इसमें तेरा क्या एहसान है ? मैंने तुझे विद्या न पढ़ाई होती तो तू क्या कर सकता था ?' तब उनका प्रेम एक क्षण भी नहीं टिक सकता था ।

द्रोण और अर्जुन में इस प्रकार प्रेमपूर्ण संवाद हुआ । द्रोण ने सब शिष्यों से कहा—जब मैं अर्जुन का उपकार मानता हूं तो तुम सब को भी इसका उपकार मानना चाहिए। अर्जुन आज मुझे न बचाता तो मैं तुम्हारा गुरु कैसे रह सकता था ?

८ : कर्ण का कपट

महाभारत की एक कथा यहां स्मरण हो आती है। यद्यपि जैन ग्रन्थों में इस कथा का उल्लेख नहीं है फिर भी मुझे उसमें कुछ रहस्य दिखाई देता है। उस रहस्य को प्रकट करने के लिए महाभारत की घटना मैं आपको सुनाता हूं।

एक दिन द्रोणाचार्य ने अर्जुन से कहा—पुत्र, मेरे पास एक ब्रह्म–अस्त्र है। वह अस्त्र किसी को मारने के लिए नहीं, वरन् रक्षा करने के लिए है। उसका प्रयोग अमोघ है। अर्थात् उसका प्रयोग कभी विफल नहीं होता। मैं तुझे ही इस ब्रह्मास्त्र के योग्य पात्र समझता हूं। इसलिए पुत्र, ले, मैं तुझे यह अस्त्र देता हूं।

यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि दुर्योधन आदि कौरव यों तो अर्जुन के प्रति घोर ईर्ष्या रखते थे, किन्तु प्रकट रूप में नहीं आते थे। ब्रह्मास्त्र की बात कर्ण को खटक गई। वह सोचने लगा कि किसी भी तरह यह विद्या तो सीखनी चाहिए। यह विद्या मैंने न सीख पाई तो मैं अर्जुन से नीचे रह जाऊंगा और अर्जुन के सामने मेरी हार हो जाएगी।

एक दिन अवसर पाकर वह द्रोणाचार्य के पास पहुंचा। वह उनके पैर पकड़ कर कहने लगा—महाराज, आप बड़े समदृष्टि हैं, लेकिन मैं देख रहा हूं कि आप में भी अब पक्षपात आ गया है अन्यथा आपने जो ब्रह्मास्त्र-विद्या अर्जुन को ही दी है, वह मुझे भी मिलनी चाहिए।

द्रोण—प्राणों की रक्षा करने वाले—अभयदान देने वाले को ही यह विद्या मिलती है। दूसरों का घात करने वालों को यह नहीं मिलती।

कर्ण—गुरुजी, एक बार मुझ से भूल हो गई तो क्या हुआ ? अब अगर दूसरी बार कभी ऐसा अवसर आया तो मैं भी आपको बचा लूंगा।

द्रोणाचार्य समझ गये थे कि यह दुष्टमति दुर्योधन के साथ मिला हुआ है। इसे ब्रह्मास्त्र देने से कोई लाभ नहीं वरन् अनर्थ ही होगा। ये सब मिलकर जगत् का नाश ही करेंगे। लेकिन उन्होंने यह बात मुख से कही नहीं। उन्होंने कुछ आवेश में आकर कर्ण को उत्तर दिया—तू यहां से चला जा। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही इस विद्या के योग्य पात्र हैं। वे ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। तू सूतपुत्र है। इसलिए हठ मत कर। तू इसका पात्र नहीं है।

द्रोणाचार्य का यह उत्तर सुनकर कर्ण बहुत हताश और मन ही मन क्रुद्ध हो गया। वह चुपचाप वहां से खिसक आया। घर आकर भी उसे चैन न पड़ा। वह मछली की तरह आवेश के कारण तड़फड़ने लगा। उसने विचार किया—हाय, मैं क्या करूं ? द्रोणाचार्य ने आज मेरा अपमान कर

दिया है। इस अपमान का बदला अर्जुन को मार कर ही चुकाया जा सकता है। इस विद्या के बिना वह मारा नहीं जा सकता और गुरुजी मुझे विद्या नहीं सिखलाते हैं। अब मैं करूं तो क्या उपाय करूं ?

कर्ण फिर सोचने लगा—आखिर यह विद्या परशुराम के पास से द्रोणाचार्य के पास आई है। मैं भी उन्हीं के पास पहुंचूं तो क्या हर्ज है ? मैं उनकी सेवा-भक्ति करके यह विद्या प्राप्त कर लूंगा।

मित्रो ! जहां तक मेरा ख़याल है, ब्रह्मास्त्र का अर्थ आत्म-शक्ति है, क्योंकि यह आत्मा ही ब्रह्म है—इन्द्र है। उसका प्रधान अर्थ-धर्म रक्षा करना है। अथवा ब्रह्मास्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्य भी हो सकता है। ब्रह्मचारी को देवादिक भी नमस्कार करते हैं। कहा है—

> देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
> बंभयारिं नमंसंति दुक्करं तं करेंति ते॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य रूप कठिन व्रत का पालन करने वाले महापुरुष को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि भी नमस्कार करते हैं।

कर्ण ने विचार किया—परशुराम से विद्या सीखने में एक बड़ी अड़चन है। वह ब्राह्मण के सिवाय दूसरे को विद्या नहीं सिखाते। लेकिन ब्राह्मण के ऊपर प्रकृति ने कोई छाप नहीं लगाई है। मैं ब्राह्मण का रूप धारण करके उनके पास जाऊंगा।

इस प्रकार विचार कर कर्ण अपने मित्र दुर्योधन के पास पहुंचा। दुर्योधन को आदि से अन्त तक सारी घटना उसने कह सुनाई। दुर्योधन ने कहा—मित्र, यह बात मैं पहले ही समझ गया था किन्तु प्रकट में कह भी तो नहीं सकता। इतने दिनों तक अर्जुन के प्रति आचार्य का पक्षपात छिपा हुआ था। आज वह खुल गया है।

फिर भी किसी प्रकार यह विद्या तो सीखनी ही चाहिए अन्यथा अपने पक्ष की हार-निश्चित है। सब शस्त्र समाप्त हो जाने पर भी आखिर अर्जुन के पास यह शस्त्र शेष रह जायगा और वह अजेय हो जायगा।

कर्ण ने कहा—मैंने एक उपाय सोचा है। परशुराम इस विद्या के आचार्य हैं। उन्हीं से द्रोणाचार्य के पास यह विद्या आई है। इसलिए उनकी सेवा करके यह विद्या उनसे सीख लेनी चाहिए।

दुर्योधन—मित्र! तुमने बहुत ठीक सोचा है। मैं यही कहने वाला था कि तुमने पहले ही कह दिया। मेरी सम्मति है कि अब विलम्ब करने का काम नहीं। जैसे भी हो, इसे प्राप्त करके ही चैन लेना चाहिए।

परशुराम किसी जंगल में तप कर रहे थे। कर्ण ब्राह्मण का वेष धारण करके उनके पास जा पहुंचा। विधिपूर्वक नमस्कार करके वह उनके सामने बैठ गया। फिर उसने कहा—महाराज! मैं एक भृगुवंशी ब्राह्मण हूं। आपकी चरण-शरण में आया हूं।

परशुराम– किस प्रयोजन से मेरे पास आये हो ?

कर्ण—मैं आचार्य द्रोण का शिष्य हूं। उनसे विद्या सीखता था। परन्तु एक दिन उन्होंने मेरा बड़ा अपमान किया।

परशुराम—एं ? द्रोण भृगुवंशी ब्राह्मणों का भी अपमान करता है ! जिससे विद्या पाई है, उन्हीं को लात मारता है ?

कर्ण—महाराज, मैं सब वृत्तान्त निवेदन करता हूं। द्रोणाचार्य अस्त्र-विद्या सिखलाते हैं। उनके पास बड़े-बड़े राजाओं, महाराजाओं के भी लड़के विद्या सीखते हैं। एक दिन उन्होंने अर्जुन को ब्रह्मास्त्र-विद्या सिखलाई। जब मैंने उस विद्या की याचना की तो यह कहकर मेरा अपमान कर दिया कि तुझे यह विद्या सीखने का अधिकार नहीं है। कारण यह है कि अर्जुन बहुत चालाक है। वह चापलूसी करने में अव्वल है। तिस पर एक बड़े राजा का कुमार है। आचार्य उसके फेर में आ गये और यहां तक कि अपने पुत्र अश्वत्थामा को भी भूल गये। उन्होंने सब के सामने भृगुवंश का बड़ा अपमान किया है। आप जैसे महापुरुष के रहते भृगुवंश का अपमान हो जाना, कोई साधारण बात नहीं है। इसीलिए मैं आपकी सेवा में आया हूं। अब इस अपमान को दूर करना आपके हाथ की बात है।

कर्ण को बनावटी बातें सुनकर और उन्हें सच मानकर परशुराम बहुत क्रोधित हुए। वह कहने लगे—कौन

ऐसा पुरुष इस पृथ्वी पर है जो मेरे जीते जी भृगुवंश का अपमान करने का साहस करे ? अच्छा वत्स, आज से तू मेरा शिष्य है । मैं तुझे विद्या सिखलाऊंगा ।

परशुराम की वात सुनकर कर्ण फूला न समाया । उसने सोचा—ठीक है । मेरा जादू असर कर गया ।

कर्ण परशुराम की खूब सेवा-भक्ति करने लगा । सेवा-भक्ति देखकर परशुराम उस पर प्रसन्न हो गए । उन्होंने उसे अनेक विद्याएं सिखलाईं और अन्त में ब्रह्मास्त्र-विद्या भी सिखला दी । ब्रह्मास्त्र-विद्या सीखने पर कर्ण का घमंड बढ़ गया । सोचने लगा—अब क्या परवाह है । अब मैं सहज ही अर्जुन को परास्त कर सकता हूं । लेकिन गुरुजी की आज्ञा लिये बिना जाना ठीक नहीं है । जब गुरुजी आज्ञा देंगे, तभी मुझे जाना चाहिए ।

एक दिन वृद्ध परशुराम अपने शिष्य कर्ण के हाथ में हाथ देकर प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए भ्रमण करने निकले । वे चलते जाते थे और यह भी बतलाते जाते थे कि इस पदार्थ का यह गुण है, इसकी यह उपयोगिता है । उन्होंने किस पदार्थ का किस प्रकार से वर्णन किया और उसमें क्या आध्यात्मिकता रही थी, इसका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता । यह विषय बहुत लम्बा है ।

जंगल में घूमते-घूमते परशुराम थक गये । उन्होंने कर्ण से कहा—वत्स ! थोड़ी देर यहां सो जावें । कर्ण ने कहा—गुरुदेव की जैसी इच्छा ।

परशुराम कर्ण की गोद में माथा रखकर सो गये। वह निश्शंक थे और निश्चिन्त थे। किसी प्रकार की चिन्ता उनके पास नहीं फटकती थी। इस कारण और थकावट के कारण भी उन्हें गहरी नींद आ गई। परशुराम जब सोये हुए थे तो एक जंगली कीड़ा आया। उसने कर्ण की जांघ में ऐसा डंक मारा की लोहू कि धारा वह निकली। कर्ण एक वार तिलमिला उठा। पर यह सोचकर कि अगर मैं शरीर की रक्षा करने जाता हूं तो गुरुजी की नींद टूट जाएगी और ऐसा करना शरीर का कर्त्तव्य नहीं है, वह निश्चल बैठा रहा। इतने में लोहू की धारा परशुराम के शरीर से छुई। लोहू के गरम स्पर्श से उनकी निद्रा भंग हो गई। वह उठे और लोहू बहते देख पूछने लगे—यह रक्त कहां से आया ? मैं इसके स्पर्श से अपवित्र हो गया हूं। मुझे इसका प्रायश्चित्त करना होगा। इतने ही में उन्होंने देखा कि लोहू तो कर्ण की जांघ से निकल रहा है। उन्होंने कारण पूछा। कर्ण ने कहा—एक कीड़े ने डंक मार दिया है। आपकी निद्रा भंग न हो जाय, यह विचार कर मैं यों ही बैठा रहा।

कर्ण का उत्तर सुनकर परशुराम ने उसके मुख की ओर गौर से देखा। उन्हें अनुमान से मालूम हुआ कि कर्ण ब्राह्मण तो नहीं है। तब उन्होंने पूछा—सच-सच कह दे, तू कौन है ? मैं अनुमान से समझ गया हूं कि तू ब्राह्मण नहीं है। तू क्षत्रिय जान पड़ता है। ऐसा असाधारण धैर्य क्षत्रिय के सिवाय और किसी में नहीं हो सकता। अब तू अपने वचन से कह दे कि वास्तव में तू कौन है ?

कर्ण क्या आशा लगाये बैठा था और क्या हो गया ?

वह सोचता था कि जागने पर गुरुजी मेरी प्रशंसा करेंगे, पर यहां तो लेने के देने पड़ गये ! वह बुरी तरह घबरा गया । उसने सोचा—महाराज कहीं कुपित हो गए और शाप दे दिया तो कहीं का नहीं रहूंगा ! इसलिए सच्ची बात कह देना ही मेरे हक में ठीक होगा । यह सोचकर कर्ण ने कहा—महाराज, दया कीजिए, क्षमा कीजिए । मेरे हृदय में द्रोण का किया अपमान खटक गया था । वास्तव में मैं ब्राह्मण नहीं हूं । ब्राह्मण न होने के कारण कदाचित् आप भी मेरा तिरस्कार कर दें, यही सोचकर मैंने अपने को ब्राह्मण प्रकट किया था । मैं सूतपुत्र हूं । मेरे पिता का नाम अधिरथ और माता का नाम राधा है ।

परशुराम—तू ने मेरे साथ कपट किया है । तू मेरे सामने आकर अपने अपमान का रोना रोता तो मुझे दया आ सकती थी । परन्तु कपट करने वाले पर मुझे दया नहीं आती । फिर भी तू ने मेरे पूछने पर सच-सच कह दिया है । अब तेरे विरुद्ध कुछ भी करना विश्वासघात होगा । इसलिए मैं कहता हूं कि मुझ से प्राप्त की हुई सब विद्याएं तेरे काम आएंगी । लेकिन कपट का फल तुझे अवश्य भोगना पड़ेगा और वह फल यह है कि ब्रह्मास्त्र तेरे काम नहीं आएगा । समय पर तू ब्रह्मास्त्र विद्या भूल जाएगा । बस, यही तेरे कपट का फल है ।

यह कथा जैन ग्रन्थों में नहीं हैं । लेकिन इसमें मुझे कुछ सार तत्त्व दिखाई दिया, अतएव आपको सुना दी है । इस कथा का सार यह है कि कपटपूर्वक की हुई सब क्रियाओं पर पानी फिर जाता है ।

वास्तव में झूठ बड़ा भारी पाप है। कहा भी है—

नहिं असत्य सम पातक दूजा।
गिरी सम होइ कि कोटिक गुंजा॥

असत्य के समान कोई दूसरा पातक नहीं है। दूसरे पाप गुंजा अर्थात् चिरमी के समान हैं और असत्य का पाप पहाड़ के समान है। शास्त्रों में कहा है कि ब्रह्मचर्य व्रत को भङ्ग करने वाला साधु प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होकर आचार्य पदवी पा सकता है, परन्तु सत्यव्रत को भङ्ग करने वाला अर्थात् झूठ बोलने वाला साधु आचार्य, उपाध्याय आदि सात पदवियों में से कोई भी पदवी पाने का अधिकारी नहीं है। कारण यह है कि यदि कोई वस्त्र मलिन हो जाता है तो वह पानी से धो लिया जाता है, लेकिन जब पानी ही मैला हो जाय तो किससे धोया जाय ?

सत्य-व्रत पानी के समान है और दूसरे व्रत कपड़े सरीखे हैं। दूसरे व्रतों की मलिनता सत्य के द्वारा साफ की जा सकती है, किन्तु सत्य की मलिनता को किससे साफ किया जाय ? अर्थात् जो व्यक्ति सत्य ही नहीं बोलता, उसे क्या दण्ड और प्रायश्चित्त दिया जाय ?

तात्पर्य यह है कि जहां झूठ अपनी जड़ जमा लेता है, वहां दूसरे पापों की गणना ही नहीं रहती। झूठ सब पापों का मूल है। अतएव अपने कल्याण की कामना करने वाले पुरुष को झूठ का त्याग करना आवश्यक है। झूठ—कपट से कभी किसी की भलाई नहीं होगी।

कर्ण जिस आशा से परशुराम के पास गया था, वह आशा धूल में मिल गई। आहत हृदय लेकर वह वहां से लौटा। उसके मन में बड़ी व्यथा यह थी कि मैंने बड़े परिश्रम से विद्या उपार्जन की थी, लेकिन गुरु के शाप से वह वृथा हो गई।

दुर्योधन यह आशा लगाये बैठा था कि कर्ण ब्रह्मास्त्र-विद्या सीखकर आ रहा है सो अपने पौ बारह हैं। जब कर्ण लौटकर दुर्योधन के पास आया तो उसने बड़े हर्ष के साथ उसका स्वागत किया और बड़ी उत्कंठा के साथ पूछा—कहो मित्र, सफलता मिली ?

कर्ण ने ठंडी सांस लेकर कहा—सब किए-कराए पर पानी फिर गया। मैंने सब विद्याएं सीख ली थी किन्तु वह निष्फल हो गई।

दुर्योधन ने चिन्ता के साथ कहा—सो कैसे

कर्ण ने आद्योपान्त सब वृत्तान्त दुर्योधन को सुना दिया। दुर्योधन के दुःख का पार न रहा। उसने सोचा—कर्ण को अर्जुन के समान समझ कर मैंने विद्या सीखने के लिए भेजा था। सोचा था कि यह अर्जुन का नाश करेगा और अर्जुन का नाश हो जाने पर दूसरे पाण्डव भी जीवित न रह सकेंगे। इस प्रकार सहज ही मैं राजा बन जाऊंगा। लेकिन जान पड़ता है, भाग्य में कुछ और ही लिखा है। मेरी आशा पूरी होती नहीं दिखाई देती।

मन में ऐसा सोचकर भी कर्ण से उसने कहा—मित्र,

चिन्ता मत करो। शाप से विद्या निष्फल नहीं होती। धैय रखो। शाप के भय से विद्या का अपमान मत करो।

दुर्योधन की यह सान्त्वना पाकर कर्ण को कितना संतोष हुआ होगा, यह कहना कठिन है। लेकिन कर्ण के हृदय में छाया हुआ विषाद कम नहीं हुआ।

कर्ण और दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास गये। द्रोणाचार्य ने कहा—कर्ण, तुम मेरे शिष्य होकर भी मुझे पूछे विना इतने दिनों तक कहां रहे ?

कर्ण ने कुछ अकड़ कर कहा—आपने सूतपुत्र कहकर मेरा अपमान कर दिया था और मुझे ब्रह्मास्त्र-विद्या नहीं सिखलाई थी। मुझे यह विद्या अवश्य सीखनी थी। इस-लिए मैं आपके गुरु के पास गया था और वहां वह विद्या सीखकर अभी लौटा हूं।

द्रोणाचार्य—तू ब्रह्मास्त्र-विद्या भले सीख आया, मगर फिर भी मैं कहता हूं कि तू उसका पात्र नहीं है। तू गुरु को धोखा देकर वह विद्या सीख आया होगा परन्तु तू उसे पचा नहीं सकता। देख ले ना, तू मेरे ही सामने कैसे अभिमान से बोलता है ! मैंने तुझे ब्रह्मास्त्र-विद्या नहीं सिखलाई है, फिर भी दूसरी विद्याएं तो सिखलाई हैं न ? क्या ब्रह्मास्त्र-विद्या न सिखलाने के कारण अन्य विद्याएं सिखलाते का कोई ऐहसान नहीं रहा ? फिर भी तू अभिमान-भरी वातै कह रहा है ! वास्तव में तो मुझे तेरी जाति का विचार नहीं था, विचार था तेरी अपात्रता का। या तो गुरुजी ने

पात्र–अपात्र का विचार नहीं किया या धोखा देकर तू गुरु से ब्रह्मास्त्र–विद्या ले आया है । फिर भी मैं यही कहता हूं कि तू उस विद्या का पात्र नहीं है । वत्स तेरा कल्याण उस विद्या को भूल जाने में ही है ।

आप जिस विद्या के योग्य नहीं है अथवा जो विद्या आप के योग्य नहीं है, उसे आप मत सीखिए । अगर सीख ली है तो उसे भूल जाइए । अयोग्य विद्या से लाभ के बदले हानि ही होती है । इसीलिए भारतवर्ष में पात्र की परीक्षा करके विद्या दी जाती थी । लेकिन आज यह विचार नहीं रहा । अब प्रत्येक आदमी अपने आपको प्रत्येक विद्या का पात्र मानता है, चाहे वह उसे हजम कर सके या न हजम कर सके । इस कारण से भी भारत की बहुत–सी विद्याएं नष्ट हो गई हैं ।

आचार्य द्रोण की बात सुनकर कर्ण मन में सोचने लगा—इनकी और परशुराम की बात तो मिलती-जुलती है । जैसे यह मुझे ब्रह्मास्त्र–विद्या का पात्र नहीं बतला रहे हैं उसी प्रकार उन्होंने भी मुझे अपात्र ठहराया है । लेकिन मैं अपात्र होता तो वह विद्या मुझे आती ही कैसे ? कुछ भी हो, अब तो सीख गया हूं और दुर्योधन का काम मुझे पूरा करना है । धर्म से डरने या प्रत्यक्ष से भयभीत होने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है । प्रत्यक्ष से बचते रहना ही मेरे लिए काफी है ।

जैसे स्त्रियां प्रत्यक्ष देखने वाले या जानने ताले के सामने घूंघट निकालती हैं, उसी प्रकार कर्ण भी किसी बुरे

काम को करने में प्रत्यक्ष देखने वाले से ही भय करता है।

दुर्योधन और अर्ण वहां से चल दिये। रास्ते में दुर्योधन ने कर्ण को तसल्ली देते हुए कहा—गुरुजी तो यों ही हैं! अब ये बूढ़े भी हो चले हैं। इनकी बातों पर अधिक ध्यान देना उचित नहीं है।

कर्ण ने कुछ उदासभाव से कहा—हां, बात तो ऐसी है।

द्रोणाचार्य के विचार किया—राजकुमारों को शिक्षा दी है तो इनकी परीक्षा भी कर लेनी चाहिए। यह सोचकर वे एक दिन जङ्गल में गये। जङ्गल में उन्हें मोर का एक पंख मिला। द्रोणाचार्य ने उस पंख को जल-कुण्ड पर स्थित एक ताड़ के पेड़ से बांध दिया। इसके बाद उन्होंने अश्वत्थामा को भेज कर सब शिष्यों को बुलाया। सब के आ जाने पर उन्होंने कहा—मैंने तुम लोगों को अब तक जो शिक्षा दी है, आज उसकी परीक्षा देनी पड़ेगी। यद्यपि शिक्षा देने में मैंने किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया, लेकिन शिक्षा का सम्बन्ध हृदय से है। अतएव अभी मालूम हो जाएगा कि किसने कितनी शिक्षा ग्रहण की है।

द्रोणाचार्य ने सब को धनुष चढ़ाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सबने धनुष चढ़ा लिये। तब आचार्य बोले—इस कुण्ड के जल में जो ताड़-वृक्ष दिखाई देता है, उस पर एक मोर पंख बंधा है। जो विद्यार्थी जल में देखकर मोर-पंख के चन्द्र को बेध देगा, वही धनुर्विद्या में निष्णात माना जाएगा। उसी को 'राधावेधी' की उपाधि दी जाएगी।

सभी विद्यार्थियों के दिल में उपाधि लेने की उमंग उठी। सब से पहले दुर्योधन लपका। जब वह निशाना साध चुका तो आचार्य ने उससे पूछा—इस कुंड के जल में तुझे क्या दिखाई देता है ?

दुर्योधन—मुझे वृक्ष, पत्ते, मोर–पंख आदि सभी कुछ दीख रहा है।

द्रोण—तो तुम निशाना नहीं लगा सकते।

अन्य राजकुमारों से भी यही प्रश्न पूछा गया। उत्तर भी सब ने यही दिया। आखिर अर्जुन की बारी आई। उससे भी आचार्य ने यही प्रश्न किया। अर्जुन ने उत्तर दिया—इस समय मुझे मोर–पंख का चन्द्रा और अपने बाण की नौंक ही दिखाई देती है। इन दोनों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं दीखता।

द्रोणाचार्य ने सब से बाण चलाने के लिए कहा। सभी ने बाण चलाये। किन्तु अर्जुन के सिवाय और सभी के बाण निष्फल गये। अर्जुन ने पंख का चन्द्र छेद दिया।

द्रोणाचार्य ने अर्जुन को छाती से लगा कर कहा—वत्स, तू बाण न लगा पाता तो अब तक का मेरा परिश्रम वृथा हो जाता। तू ने मेरी लाज भी रख ली और विद्या भी रख ली।

द्रोणाचार्य ने अन्य शिष्यों से कहा—मैंने तुम सब को समान रूप से धनुर्विद्या सिखलाई है, पर तुम लोग ध्यान

नहीं देते। अर्जुन मेरी शिक्षा पर खूब ध्यान देता है, इसी कारण उसे सफलता मिली है।

द्रोणाचार्य की बात सुन कर दुर्योधन और कर्ण के हृदय में आग-सी लग गई। उन्हें अर्जुन की प्रशंसा सहन नहीं हुई। वे आपस में कहने लगे—स्पष्ट है कि गुरुजी पक्षपात करते हैं। उन्होंने अर्जुन को मन का साधना बतलाया है और हम लोगों को नहीं बतलाया। हमें मन की साधना वतलाई होती तो क्या हमलोग निशाना नहीं लगा सकते थे ?

दुर्योधन भले ही ईर्ष्या के वश होकर द्रोणाचार्य पर पक्षपात करने का आरोप लगावे, परन्तु वह वास्तव में शिक्षा देने में पक्षपात नहीं करते थे। प्रश्न किया जा सकता है कि द्रोण दुर्योधन आदि के स्वभाव से परिचित होकर भी और उन्हें आसुरी प्रकृति का प्रतिनिधि समझ कर भी क्यों शिक्षा देते थे ? क्या वे अपनी शिक्षा का भविष्य में दुरुपयोग होना नहीं समझ पाये थे ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् महावीर ने गोशाला को लब्धि क्यों सिखलाई? गोशाला ने भगवान् पर उन्हीं की सिखलाई हुई लब्धि का प्रहार किया था और भगवान् चार ज्ञान के धनी थे। फिर भी क्यों उन्होंने उसे लब्धि सिखलाई ?

विरोध में जब विशेष बल वाला होता है, तभी बल की ठीक परीक्षा होती है। संभवतः इसी विचार से भगवान् ने गोशाला को लब्धि सिखलाई होगी।

सामने परीक्षा होने से बहुत से दुष्ट–लोग तो राजकुमारों की शिक्षा देखकर ही दब जाएंगे । शक्तिप्रदर्शन से भी बहुत-सा काम हो जाता है ।

भीष्म—आपका विचार यथार्थ है । परीक्षा लेने का विचार तो मेरे मन में भी आया था पर यह सोचकर रह गया कि जब तक आचार्य स्वयं नहीं कहते तब तक शिक्षा में हस्तक्षेप करना उचित नहीं है । आप स्वयं दक्ष और कुशल हैं । अवसर देखकर ही आपने बात कही है । शीघ्र ही सब के समक्ष राजकुमारों की परीक्षा प्रारंभ करदी जाय ।

द्रोणाचार्य ने परीक्षास्थल का निश्चय किया और भूमि परिष्कृत करके वहां एक मण्डप बनवाया । उस मण्डप में कुछ मचान बंधवाए और ऐसी योजना की कि एक ओर राजपुरुष उन पर बैठकर देख सकें और दूसरी ओर राज-महिलाएं भी भलीभांति देख सकें । इसी प्रकार प्रजाजनों के बैठने के लिए भी सुन्दर व्यवस्था की गई और इस बात का ध्यान रखा गया कि परीक्षा देने वालों को किसी प्रकार की असुविधा न हो ।

परीक्षा के लिए बनी हुई रंगभूमि का वर्णन महाभारत और पाण्डवपुराण में बहुत विस्तारपूर्वक और काव्यमय किया गया है । उस वर्णन को पढ़ने से अनायास ही मालूम हो जाता है कि पुराने जमाने में शस्त्रविद्या के साथ ही साथ शिल्पकला भी कितनी उन्नत थी ।

आज शस्त्रविद्या का स्थान बमों ने ले लिया है ।

लोग निश्चिन्त बैठे हैं और अचानक शत्रुपक्ष का वायुयान आकर उन पर मौत की वर्षा कर देता है । इस प्रकार बम-वर्षा करके मनुष्यों की हत्या कर डालना कोई वीरता का काम नहीं है । प्राचीन काल में ऐसा अधर्म-युद्ध नहीं होता था, जिसमें किसी को अपना बचाव करने का अवसर न मिले । बवाव करने की कम-बढ़ शक्ति सभी में होती है, परन्तु उसका उपयोग अवकाश मिलने पर ही किया जा सकता है । सिंह आदि हिंसक पशु जिन दूसरे पशुओं का शिकार करते हैं, उन पशुओं के पास भी बचाव का कुछ साधन होता ही है तो फिर मनुष्य की बात ही क्या है ! लेकिन छल-कपट से, लुक-छिपकर किसी पर आक्रमण कर देना कोई बहादुरी नहीं, बल्कि कायरता है । पहले के योद्धा नीति से काम लेते थे ।

द्रोणाचार्य ने रंगभूमि बनाने में भी अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया । उन्होंने सुन्दरता के साथ योजना की ।

मण्डप बन गया । परीक्षा का समय सन्निकट आ गया । जनता की भीड़ उमड़ पड़ी । द्रोणाचार्य जैसे प्रख्यात आचार्य से शिक्षा पाये हुए राजकुमारों का कला-कौशल भला कौन न देखना चाहता ? नर, नारी, बालक, वृद्ध सभी परीक्षास्थल में आ गये । राजपरिवार के लोग भी उपस्थित हो गए । जब सब लोग शांति के साथ अपने-अपने नियत स्थान पर बैठ गए तो द्रोणाचार्य अपनी शिष्य-मण्डली को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करके परीक्षा-स्थल में ले आये । अपनी शिष्यमण्डली के बीच आज उनके चेहरे पर एक अपूर्व ही दीप्ति थी । तिस पर ऊपर से नीचे तक धारण किये हुए श्वेत वस्त्र और ललाट पर लगा हुआ श्वेत चंदन उनके

धवल यश का विस्तार कर रहा था । द्रोणाचार्य को देखकर लोगों का हृदय आदर से पूर्ण हो गया ।

राजकुमारों के चेहरे भी अद्भुत तेज से प्रकाशमान हो रहे थे । उनका तेज आश्चर्यजनक था । सभी के हृष्ट-पुष्ट शरीर, तेजस्वी ललाट और चमकती हुई आंखें एक विचित्र शोभा उत्पन्न कर रहे थे ।

उस समय के छात्र आजकल के छात्रों के समान निस्तेज और दुर्बल नहीं होते थे । आज के छात्र बी. ए. होते-होते अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर बैठते हैं । मुंह पिचक जाता है और आंखें भीतर की तरफ धंस जाती हैं । इन राजकुमारों में जो तेज था वह विशेषतः ब्रह्मचर्य का तेज था । पहले के छात्रों को ज्ञान के साथ चरित्र भी सिखाया जाता था और ब्रह्मचर्य की शिक्षा विशेष तौर से दी जाती थी । परन्तु आज के कालेजों में सदाचार के लिए कोई स्थान ही नहीं जान पड़ता । यही नही, बल्कि कहीं-कहीं तो दुराचार भी सिखलाया जाता है । गांधीजी ने लिखा है—'मैं जब विलायत में पढ़ता था, तब शिक्षा पाने वाले को शिक्षालय की ओर से दो बोतल शराब मिलती थी, जो मेरे शराब पाने के लालच से बने हुए मित्र ही ले लेते थे। उन मित्रों ने मुझसे मित्रता ही इसलिए जोड़ रखी थी कि ये शराब नहीं पीयेंगे और इनकी शराब हमें मिल जायेगी ।' पहले के जमाने में इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती थी ।

एक साथ सब तेजस्वी राजकुमारों को देखकर राज-परिवार के पुरुष और महिलाएं गौरव से फूल उठे । उनके नेत्र मानों निहाल हो गए ।

१० : राजकुमारों की परीक्षा

द्रोणाचार्य ने राजकुमारों को सावधान होने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही सब एकदम सावधान हो गए। तदनन्तर आचार्य ने शस्त्र उठाने की आज्ञा दी। द्रोणाचार्य के आदेशानुसार राजकुमारों ने उसी प्रकार के सब कार्य किये, जैसे आजकल के फौजी सिपाही कवायद करते हैं। कवायद करने की प्रथा आजकल की नहीं वरन् प्राचीन काल से चली आ रही है।

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने दर्शकों को लक्ष्य करके कहा—'अब राजकुमार बाण-विद्या का प्रदर्शन करेंगे, आप लोग देखिए।' सबकी उत्सुकता बढ़ गई। सन्नाटा छा गया।

राजकुमार आकाश की ओर—ऊपर बाण चलाने लगे। बाण इतनी फुर्ती के साथ चलाये जा रहे थे कि पता नहीं नहीं चलता था कि किसने कब चलाया! वह एक दूसरे के बाणों को काटते भी जाते थे। सब लोग राजकुमारों की धनुर्विद्या को देखकर चकित रह गये।

द्रोण कहने लगे—आपने अन्य राजकुमारों का बाण चलाना तो देख लिया मगर अर्जुन को मैंने अलग खड़ा

रखा है। इसका कारण यह है कि उसमें धनुर्विद्या का असाधारण कौशल है। अर्जुन के कौशल को आप सब के साथ नहीं देख सकते थे। इसीलिए मैंने उसे अभी अलग रखा है। अल्पशक्ति के साथ महाशक्ति का परिचय नहीं कराया जा सकता। अतएव अर्जुन की कुशलता को अलग देखना ही उचित होगा।

द्रोणाचार्य की बातें सुनकर भीष्म आदि सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। धृतराष्ट्र कहने लगे—मैं आंखों से तो अन्धा हूं, राजकुमारों का कौशल देख नहीं सकता, लेकिन कानों मे बड़ी प्रिय बातें सुन रहा हूं। गांधारी और कुन्ती आदि रानियां भी रंगभूमि के दृश्य देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं।

बाण-विद्या की परीक्षा करने के पश्चात् रथ--विद्या की बारी आई। राजकुमार अपने-अपने रथों में बैठ कर इधर-उधर घूमने लगे। स्वयं दूसरे पर आघात करते हुए आत्म-रक्षा भी करने लगे। कौन राजकुमार कब, किधर से निकला और किधर गया, किसका बाण किसके द्वारा और कब काटा गया, किसने कब बाण चलाया इत्यादि बातें कुछ समझ में ही नहीं आती थीं। सब दर्शक आश्चर्य-चकित रह गये और रथ-विद्या सिखाने वाले आचार्य द्रोण की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे।

इस प्रकार रथ-विद्या की परीक्षा के वाद सबने घुड़-दौड़ दिखलाई। दौड़ते हुए घोड़े पर से हाथी पर कूद जाना, हाथी पर से कूद कर रथ में वैठ जाना, रथ से उछल कर घोड़े पर सवार हो जाना या हाथी पर कूद जाना इत्यादि

विचित्र-विचित्र कलाएं देख कर जनता फिर राजकुमारों की प्रशंसा करने लगी ।

घुड़दौड़ के पश्चात् द्रोणाचार्य ने आज्ञा दी—एक ओर युधिष्ठिर हो जाए और दूसरी ओर शेष सब राजकुमार हो जाएं । सब मिल कर युधिष्ठिर को घेरें और युधिष्ठिर सब के घेरे में से अपना रथ निकाल ले जाए ।

आज्ञानुसार सब राजकुमारों ने युधिष्ठिर का रथ घेर लिया । युधिष्ठिर अपने रथ को, घेरे में से बाहर निकालने के लिए कुम्भार के चाक से भी अधिक तेजी के साथ घुमाने लगे और सब बाणों से अपना बचाव करते हुए सकुशल बाहर निकल आये ।

द्रोणाचार्य ने कहा—तुमने हमारी प्रतिष्ठा बचा ली ।

युधिष्ठिर ने विनीत स्वर में उत्तर दिया—सब आपका ही प्रताप है ।

इसके पश्चात् असि-परीक्षा आरम्भ हुई । द्रोणाचार्य ने नकुल और सहदेव से कहा—'तुम दोनों अपनी असि के बल पर सब के घेरे में से निकल आओ ।' सब राजकुमार दोनों को घेर कर तलवार चलाने लगे, लेकिन नकुल और सहदेव अपनी तलवार से सब के प्रहारों को बचाते हुए घेरे से बाहर निकल आये ।

११ : गदा-युद्ध

इसके बाद गदा-युद्ध की परीक्षा का समय आया। द्रोणाचार्य ने भीम और दुर्योधन से कहा—तुम दोनों गदा-युद्ध द्वारा अपनी शिक्षा का परिचय दो।

भीम क्रोधी तो था और इस कारण वह किसी की ललकार नहीं सह सकता था, परन्तु था वह दैवी प्रकृति का ही। इसके विरुद्ध दुर्योधन आसुरी प्रकृति का था। उसका हृदय द्वेष से भरा हुआ था। वह मन ही मन सोचने लगा—गुरुजी ने आज अच्छा अवसर दिया है। आज अपनी गदा के प्रहार से मैं भीम को यमधाम ही पहुंचा दूंगा। इस अवसर पर भीम का अन्त कर डालने से मैं कलंक से भी बच जाऊंगा। गदा चलाते समय उसकी चोट लग जाए और भीम उसे बचा नहीं सके तो इसमें मेरा क्या अपराध गिना जा सकता है ?

छल-कपट करना, काम कुछ और करना तथा बहाना कुछ और बनाना आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं।

भीम और दुर्योधन अपनी-अपनी गदा संभाल कर

खड़े हुए । दोनों में तुमुल युद्ध होने लगा । यद्यपि दुर्योधन, भीम को मार डालने के इरादे से ही गदा चला रहा था किन्तु भीम बड़ी सफाई के साथ उसके प्रहार को बचा लेता था । भीम के मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं थी, इसलिए वह दुर्योधन को मार डालने के उद्देश्य से गदा नहीं चलाता था । भीम और दुर्योधन की गदाएं पहाड़ की तरह लड़ जाती थीं और दर्शक भयभीत हो रहे थे । वह कठोर और भयानक संग्राम देख-देखकर बहुतों का कलेजा सूखा जा रहा था । थोड़ी देर में दुर्योधन की दुर्भावना दर्शकों पर प्रकट हो गई । दर्शकों की भीड़ में से ध्वनि सुनाई दी— दुर्योधन बेकायदा गदा चला रहे हैं । कुछ लोग दर्शकों में दुर्योधन के पक्ष के थे । वह कहने लगे—नहीं दुर्योधन की गदा ठीक चल रही है और वे लोग दुर्योधन की प्रशंसा भी करने लगे ।

दुर्योधन की दुर्भावना देखकर और उसके पक्ष के लोगों द्वारा उसकी प्रशंसा सुन कर भीम भी क्रुद्ध हो उठा । दोनों में परीक्षा के बदले भयंकर युद्ध होने लगा । ऐसा जान पड़ता था, मानों दो मदोन्मत्त हाथी अपनी सूंडों से आपस में घमासान युद्ध कर रहे हों । लोगों को भय हुआ कि आज पृथ्वी से या तो दुर्योधन उठ जाएगा या भीम समाप्त हो जाएगा ।

लोग चिल्लाने लगे—अनर्थ, घोर अनर्थ हो रहा है । युद्ध वन्द होना चाहिए ।

द्रोणाचार्य सोचने लगे—अनर्थ हो गया तो वड़ा

अपयश होगा। उन्होंने अपने पुत्र अश्वत्थामा से कहा—पुत्र, तुम इन दोनों को छुड़ा दो।

अश्वत्थामा दोनों के बीच में खड़ा हो गया। अश्वत्थामा स्वयं भी वीर था और उसके प्रति दुर्योधन या भीम की दुर्भावन नहीं थी। अश्वत्थामा ने दोनों के गदा सहित हाथ रोक लिये। दोनों की गदाएं दोनों के हाथों में रह गईं और गदा–युद्ध का अन्त हो गया।

१२ : अर्जुन की परीक्षा

जब सब राजकुमार परीक्षा दे चुके तब इन्द्र के समान तेजस्वी, सूर्य के समान प्रकाशमान, सिंह के समान वीर और बैल के समान वीर्यवान् अर्जुन से द्रोणाचार्य ने कहा—आओ वत्स, अब तुम्हारी बारी है। तुम अपनी कला दिखलाओ।

आचार्य का आदेश पाकर सुनहरा कवच पहने हुए अर्जुन परीक्षास्थल में आये। अर्जुन की शान निराली थी। उसे देखकर सब लोग कहने लगे—यह धनुर्धारी कुन्ती का पुत्र अर्जुन है! अब तक तो अर्जुन की प्रशंसा ही सुनी है, अब देखें यह कैसे वीर हैं!

कोलाहल सुनकर उधर धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा—यह कोलाहल क्यों हो रहा है?

विदुर ने कहा—अब अर्जुन परीक्षा देने आया है।

धृतराष्ट्र ने कहा—अर्जुन का कौशल देखने के लिए लोग इतने लालायित हैं! बड़ी प्रसन्नता की बात है।

अर्जुन ने सब को प्रणाम करके कहा—मैं जो कला प्रदर्शित कर रहा हूं, वह मेरी नहीं, गुरुजी की है। मैं पेटी हूं, गुरु उसके स्वामी हैं। पेटी में जो वस्तु रखी है, वह पेटी की नहीं हो सकती, उसके स्वामी की होगी।

अर्जुन की विनम्रता देखकर आचार्य और दूसरे लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। किसी ने कहा—नम्रता और विनयशीलता की कला में अर्जुन सर्वप्रथम है और कलाएं तो बाद में देखेंगे, यह कला तो देख ही चुके। जो अपने विद्यागुरु के प्रति इतनी भक्ति रखता है, वह अवश्य ही विशिष्ट विद्यावान् होगा।

द्रोण ने कहा—यह बहुत विनयवान् है।

इतना कहकर उन्होंने अर्जुन के सिर पर हाथ फेर कर कहा—अर्जुन, तुमने वाणी से तो सब को जीत ही लिया है, लेकिन अब कला दिखलाओ।

अर्जुन ने वीरता और धीरता के साथ अपना धनुष चढ़ाया। धनुष चढ़ाकर उसने अग्निबाण छोड़ा। अग्निबाण छूटते ही ज्वाला प्रकट हुई। दर्शक डरने लगे कि कहीं अर्जुन का यह बाण हमें भस्म न कर दे। इतने ही में उसने वरुणबाण छोड़ा और अग्नि शान्त हो गई।

दर्शक सोचने लगे—अर्जुन में कोई दैवी-शक्ति जान पड़ती है, नहीं तो एक बाण मारते ही आग और दूसरे बाण से पानी ही कैसे प्रकट हो गया?

अर्जुन के बाण से इतना पानी हो गया कि लोगों को वह जाने की आशंका होने लगी। उसी समय अर्जुन ने पवन-बाण चला दिया। उसने सारा पानी एकदम सोख लिया।

लोग यह देखकर आश्चर्य कर ही रहे थे कि एक बाण और चला। वह तिमिरबाण था। इस बाण के चलते ही सब ओर अंधकार ही अंधकार छा गया। तब तिमिर-बाण का निराकरण करके अर्जुन ने एक और विचित्र बाण छोड़ा। उस बाण के छूटते ही सब जगह पर्वत ही पर्वत उड़ते नजर आने लगे। थोड़ी देर पर्वत उड़ाने के बाद एक और बाण चलाकर पर्वतों को विलीन कर दिया। बाण चलाते समय अर्जुन कभी प्रकट रहता और कभी अप्रकट हो जाता था। इस प्रकार अर्जुन ने धनुर्विद्या की भली-भांति परीक्षा दी, मानों कोई जीवात्मा खेल दिखा रहा हो।

धनुर्विधा की परीक्षा समाप्त हो जाने पर अर्जुन ने गुरु के चरणों में फिर प्रणाम किया। इसके पश्चात् वह सूक्ष्म अस्त्रों के संचालन का कौशल दिखलाने लगा। फिर कभी हाथी पर, कभी घोड़े पर, कभी रथ पर, कहीं एक रूप में, कहीं अनेक रूपों में सवार दिखाई देने लगा।

अर्जुन का यह सब अनुपम कौशल देखकर दर्शक मुग्ध हो गए। लोग आपस में कहने लगे—आचार्य का यह कथन ठीक ही था कि महान् प्रकृति वाले की साधारण प्रकृति वाले के साथ परीक्षा नहीं होनी चाहिए। लोग वाह-वाह की ध्वनि के साथ अर्जुन का अभिनन्दन करने लगे। कोई अर्जुन को धन्य कहता, कोई पाण्डव-कुल को

धन्य कहता और कोई द्रोणाचार्य को धन्य कहता था ।

इस प्रकार चारों ओर अर्जुन की प्रशंसा सुन कर कौरव बुरी तरह जल-भुन गये । वे आपस में कहने लगे—आचार्य कितने पक्षपाती हैं कि इन्होंने अर्जुन को अग्निबाण, वरुणबाण, वायुबाण चलाना आदि सभी कुछ सिखा दिया और हमें इनमें से कुछ भी नहीं सिखलाया । यह परीक्षा क्या हुई, हमारे हृदय में आग लगाने वाली बात हो गई ।
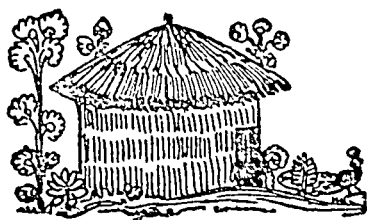
१३ : कर्ण की चुनौती

कौरव उदास बैठे हुए थे और अर्जुन अपने स्थान पर पहुँच चुका था। इतने में ही बाहर से आया हुआ घोर शब्द सुनाई दिया। वह शब्द कान में पड़ कर भय उत्पन्न करता था। लोग सोचने लगे—यह शब्द किसका है और कहां से आ रहा है? लोग आश्चर्य में डूबे थे कि उसी उमय सभा-मण्डप में एक वीर आता दिखाई दिया। वह वीर कवच-कुण्डल पहने हुए था। उसकी आकृति से वीरता टपक रही थी, मानो स्वयं वीरता ही शरीर धारण करके आई हो। उसे देखते ही लोग कहने लगे—यह वीर कौन है? किसका पुत्र है? इसके माता-पिता धन्य हैं!

उसे आते देखकर द्रोणाचार्य ने कहा—यह मेरा शिष्य कर्ण है। अपनी कला दिखलाना चाहता होगा।

द्रोणाचार्य की बात सुनकर, रोषपूर्वक उन्हें प्रणाम करता हुआ कर्ण उनसे कहने लगा—आपने तो मेरा अपमान कर दिया था। मुझे विद्या सिखलाने से इन्कार कर दिया था। आपके लिए तो सिर्फ अर्जुन ही प्रशंसनीय था। मैं

आपके गुरु से विद्या सीख कर आया हूं। इस नाते आप मेरे गुरु-भाई हैं।

कर्ण को आया देख और उसकी बात सुन कर दुर्योधन प्रसन्न हुआ। वह सोचने लगा—मैं अर्जुन की प्रशंसा सुन कर दुःखी हो रहा था। अच्छा हुआ, कर्ण आ पहुँचा। मेरा भाग्य प्रबल है, इसीलिए यह यहां आ गया है।

दुर्योधन ने कहा—इस वीर कर्ण की भी परीक्षा होनी चाहिए। इसका बल भी देखना चाहिए।

द्रोणाचार्य ने कहा—कर्ण भी परीक्षा देगा। उठो कर्ण, परीक्षा दो।

कर्ण खड़ा हुआ। वह लोगों से कहने लगा—तुम लोग अर्जुन की ही प्रशंसा कर रहे हो, लेकिन अब देखना अर्जुन मेरे सामने क्या है!

भीड़ में से आवाज आई—अर्जुन ने तुम्हारी तरह गाल नहीं बजाये थे, उन्होंने करके दिखलाया है। तुम भी गाल मत बजाओ। जो कुछ करना है, करके दिखलाओ।

यह आवाज सुनकर कर्ण चुप हो गया। वह अपनी कला दिखलाने लगा। उसने अर्जुन को भी मात कर देने वाली कला का प्रदर्शन किया। यह देख कर लोग धन्य-धन्य कह कर उसकी प्रशंसा करने लगे।

जहां हृदय मलिन नहीं है वहीं धर्म रहता है। ऊपर

से कोई कैसा ही दिखावा करे, हृद५ में अगर मैलापन है तो वह छिप नहीं सकता। कौरवों की मलिनता आखिर सभी पर प्रकट हो गई।

कर्ण ने कला-प्रदर्शन करके कहा—अर्जुन का और मेरा मल्लयुद्ध हो जाय तो पता लगेगा कि कौन वीर है ?

धर्म के लिए आलस्य आ जाना उतना बुरा नहीं है, जितना पाप के लिए उत्साह होना। कर्ण का पराक्रम दिखलाना तो किसी दृष्टि से बुरा नहीं था किन्तु कर्ण के मन में अर्जुन को अपमानित करने की दुर्भावना किसी प्रकार भी सराहनीय नहीं कही जा सकती।

कर्ण ने कला-प्रदर्शन किया और लोगों ने उसकी प्रशंसा की, इससे कर्ण का अभिमान और बढ़ गया। वह ताल ठोक कर कहने लगा—आप लोग अर्जुन की कला देख कर ही चौंधिया गये, किन्तु तारा तभी तक चमकता है, जब तक सूर्य का उदय नहीं होता। जो मुझे कला में जीतना चाहता हो, मेरे सामने आ जाए !

कर्ण की बातें सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ। वह खड़ा होकर कहने लगा—'सज्जनो, आप लोग केवल अर्जुन की ही प्रशंसा करते थे परन्तु संसार में एक से एक बढ़कर वीर मौजूद हैं। उनके सामने अर्जुन तुच्छ है। यह मेरा मित्र कर्ण भी बड़ा वीर है।'

दुर्योधन द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर कर्ण का जोश और बढ़ गया। वह कहने लगा—अगर अब भी किसी का

खयाल है कि अर्जुन बहुत बड़ा वीर है तो मैं सामने खड़ा हूं। अर्जुन शस्त्र रखकर आ जाए और मुझसे मल्ल-युद्ध करे।'

कर्ण की ललकार सुनकर अर्जुन ने शस्त्र रख दिये और कर्ण के सामने आ गया। आश्चर्य और भय का साम्राज्य छा गया।

कुन्ती मन में कहने लगी—यह तो वही लड़का है, जिसे मैंने पेटी में बन्द करके नदी में बहा दिया था। यह अर्जुन का सगा भाई है, लेकिन अज्ञान के कारण आपस में दोनों लड़ रहे हैं। अब क्या उपाय किया जा सकता है? मुझे तो दोनो पर ही प्रेम है।

जैसे अहिंसा सब का कल्याण चाहती है, उसी प्रकार कुन्ती भी इन दोनों की रक्षा और कल्याण चाहती है। दोनों को युद्ध की तैयारी करते देख वह व्याकुल हो गई। कर्ण और अर्जुन अब मल्लयुद्ध करने के लिए, एक दूसरे को घूरते हुए, आमने-सामने खड़े थे।

कृपाचार्य भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने देखा—परीक्षाभूमि युद्धभूमि के रूप में बदलती जा रही है। यह सोचकर वे शीघ्रतापूर्वक अपने स्थान से उठे और कर्ण और अर्जुन के बीच में खड़े हो गए, जैसे दो हाथियों के बीच में तीसरा हाथी खड़ा हो गया हो। उन्होंने दोनों को रोककर कहा—अर्जुन पाण्डवपुत्र और कुन्ती का आत्मज है, यह बात प्रसिद्ध है। इसी प्रकार हे वीर, तुम भी अपनी जाति और कुल को प्रसिद्ध करो। राजकुमार के साथ राजकुमार का

ही मल्लयुद्ध हो सकता है, अन्य के साथ नहीं। अगर तुम भी राजकुल में उत्पन्न ठहरे तो अर्जुन तुमसे अवश्य मल्ल-युद्ध करेगा, नहीं तो तुम किसी अपनी जाति वाले से लड़ो।

कर्ण के उत्साह पर पाला पड़ गया। उसका सारा जोश-खरोश ठंडा हो गया। वह सोचने लगा—'मैं सूतपुत्र हूं। मैं क्या हूं?'

कर्ण को हतोत्साह हुआ देखकर दुर्योधन उसकी सहा-यता के लिए खड़ा हो गया। उसने कहा—आप लोग पक्ष-पात में पड़कर बड़ी गड़बड़ मचा रहे हैं। नीति में तीन को राजा होने योग्य बतलाया है—राजकुल में उत्पन्न होने वाले को, बलवान् को और सेनापति को। आप कर्ण को अर्जुन से लड़ाइए तो सही: अगर कर्ण, अर्जुन को दे मारे तो उसे बलवान् समझना, नहीं तो नहीं। यहां कुल का विचार नहीं, बल का विचार होना चाहिए। इस पर भी यदि आपका यही आग्रह हो कि राजकुल में उत्पन्न होने वाले के साथ ही अर्जुन का युद्ध हो सकता है तो मैं कर्ण को भी अभी राजा बनाये देता हूं।

इस प्रकार कहकर दुर्योधन ने वहीं कर्ण का राज्या-भिषेक कर दिया और उसे अङ्ग देश का राजा बना दिया। उसके बाद दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा—लो, अब तो आपकी शर्त पूरी हुई। अर्जुन में अगर बल है तो उसे कर्ण से लड़ाओ।

दुर्योधन की धृष्टता देखकर कुन्ती अत्यधिक व्याकुल हो रही थी। वह सोचने लगी—कृपाचार्य की कृपा से जो

बुरा अवसर टल गया था, वह दुर्योधन की दुष्ट बुद्धि और ईर्ष्या के कारण फिर उपस्थित हो रहा है। फिर भी सदा सत्य की ही जय होती है।

उधर अधिरथ सूत के पास समाचार पहुँचा कि तुम्हारा बेटा राजा बन गया है तो वह अपने भाग्य की सराहना करता हुआ परीक्षास्थल पर आया। उसने कर्ण से कहा—'बेटा तू धन्य है।'

पिता को सामने देख कर्ण सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। उसने पिता के पैर छूकर कहा—यह सब आपका ही प्रताप है।

कर्ण की विनयशीलता देख कर लोग कहने लगे—कर्ण विनयवान् अवश्य है, फिर भी है तो सूतपूत्र ही। इसे राज्य देते समय विचार करना चाहिए था।

भीष्म और धृतराष्ट्र सोचते थे—दुर्योधन ने ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में भी हम से सम्मति नहीं ली और बिना पूछे ही कर्ण को राजा बना डाला!

इस प्रकार दुर्योधन का कार्य किसी को रुचिकर नहीं हुआ, वरन् अरुचिकर भी हुआ। लेकिन उसके दुष्ट स्वभाव का विचार करके कोई कुछ न बोला।

अलबत्ता भीम से नहीं रहा गया। वह बोला—रे कुलांगार, यह कर्ण तो सूतपुत्र है। इसके हाथ में चाबुक दे। इसके हाथ में घोड़े की लगाम ही शोभा दे सकती है, राज्य नहीं सोहता।

दुर्योधन ने कहा—चुप रहो, देखते नहीं, कर्ण सूतपुत्र के समान नहीं किन्तु राजपुत्र के समान शोभा पा रहा है।

अधिरथ यह सुनकर हड़बड़ा उठा। उसने सोचा—कहीं हाथ में आया राज्य चला गया तो अनर्थ हो जायगा। अच्छा यही है कि सच्चा वृत्तान्त प्रकट कर दिया जाय।

यह सोचकर अधिरथ ने दुर्योधन से कहा—आप ठीक कहते हैं, आप ज्ञानी है। वास्तव में मैं कर्ण का पालक पिता—मात्र हूं। यह मेरा पुत्र नहीं हैं। जमुना नदी में एक पेटी बहती चली जा रही थी। मैंने पेटी निकाली और उसमें से कर्ण निकला। हमारे कोई संतान नहीं थी, इस कारण मैंने और मेरी पत्नी राधा ने इसका पालन-पोषण किया।

अधिरथ की बात से कुन्ती को विश्वास हो गया कि कर्ण मेरा ही पुत्र है। वह कहने लगी—

अज्ञता जग में दुःखदायी,
इसने सुधबुध सब भुलाई।
एक उदर के पुत्र ये मेरे,
कर्णार्जुन दोऊ भाई।
अज्ञता-वश हो, लड़ के मरेंगे,
कैसे कहूं समझाई। अज्ञता०।
ज्ञान-संचार होय जो इनमें,
मिटे दुःख छिन माईं।
करें सहायता एक दूजे की,
भू-मण्डल सुखदाई। अज्ञता०।

कृष्ण बिना कहूं बात मैं किससे,
मन ही मन पछताई ।
मूर्छाई तब विदुर उठाई,
धीरज अति ही बंधाई । अज्ञता०।

कुन्ती को अनुभव हुआ कि संसार में अज्ञान के समान दूसरा दुःख नहीं है । वह सोचने लगी कि यह दोनों एक ही माता के पेट से उत्पन्न हुए हैं और फिर भी आपस में लड़ मरना चाहते हैं । इस समय इन्हें कौन समझाये ? इस समय कृष्ण भी तो नहीं हैं, मैं सच्ची बात किससे कहूं ?

इस प्रकार सोचती-सोचती कुन्ती मूर्छित हो गई । कुन्ती को मूर्छित देखकर विज्ञ विदुर ने समझ लिया कि इसमें कुछ रहस्य होना चाहिए । उन्होंने कुन्ती पर पंखा किया । उसे सावचेत किया और धैर्य बंधाया । जब कुन्ती स्वस्थ हो गई तो विदुर ने उससे मूर्छा का कारण पूछा । पहले तो उसने मौन ही रहना उचित समझा, परन्तु विदुर के विशेष आग्रह करने पर कहा—मैं मां हूं और सभी की मां हूं । मां पृथ्वी के समान होती है । मुझे दुःख हो रहा है कि ये आचार्य इन सब बालकों को यहां कला दिखलाने लाये हैं या युद्ध कराने ? युद्ध होने पर चाहे कर्ण मरे चाहे अर्जुन मुझे तो दोनों में से एक के लिए शोक करना ही होगा । इस सभा में यह अन्याय और इस खेल में यह दंगल होना अच्छा नहीं । देखो न, वे दोनों मल्लयुद्ध करने को तैयार खड़े हैं और वह दुर्योधन कैसी आग लगा रहा है !

गांधारी ने भी कुन्ती का समर्थन किया । उसने

कहा—सचमुच दुर्योधन कुलांगार है, जो इस प्रकार आग लगा रहा है।

कोलाहल सुनकर अंधे धृतराष्ट्र ने कारण पूछा। विदुर ने कहा—कोलाहल का कारण यह है कि दुर्योधन ने एक आग सुलगा दी है। उसने कर्ण को अंग देश का राज्य देकर राजा बना दिया है। कर्ण ने प्रतिज्ञा की है कि तुमने मुझ कंकर को हीरा बनाया है, इसलिए जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, तब तक तुम्हारा मित्र रहूंगा और चाहे चन्द्र आग बरसाने लगे, हिमालय रज कण हो जाय, तब भी मैं तुम्हारी मित्रता का परित्याग नहीं करूगा। दुर्योधन से राज्य पाकर कर्ण बलवान् बन कर अर्जुन से युद्ध करने पर तुला हुआ है।

धृतराष्ट्र कहने लगे—कुन्ती सती है और उसका पुत्र अर्जुन भी श्रेष्ठ है। दुष्ट दुर्योधन सूतपुत्र के साथ उसका युद्ध करवाना चाहता है? अच्छा, दुर्योधन को मेरे पास बुलाओ।

इधर कर्ण और अर्जुन युद्ध करने के लिए खड़े थे। उस समय द्रोणाचार्य ने खड़े होकर कहा—आप सब लोग कोलाहल कर रहे हैं, मगर सूर्य को भी देखते हो? हम प्रत्येक कार्य सूर्य की साक्षी से ही करते हैं। सूर्य की साक्षी के बिना न परीक्षा हो सकती है, न युद्ध हो सकता है। वह देखो सूर्य डूब रहा है।

कवि कहता है—कुन्ती का दुःख मानों सूर्य से नहीं देखा गया, इसी कारण वह लाल होकर ओट में छिप गया।

द्रोणाचार्य की बात सुन कर सब लोग सूर्य की ओर देखने लगे। सूर्य सचमुच डूब रहा था। तब द्रोणाचार्य ने फिर कहा—अब सब लोग अपने-अपने घर जावें। सूर्य अस्त हो गया है, इस कारण अब कोई कार्य नहीं हो सकेगा—मल्लयुद्ध भी नहीं होगा।

द्रोणाचार्य का कथन सुनकर सब लोग उठकर चलने लगे। दुर्योधन मन ही मन बुरी तरह खीझ रहा था। वह कभी द्रोणाचार्य को, कभी कृपाचार्य को कोसता और कभी सूर्य को कोसने लगता कि दुष्ट सूर्य को ऐन मौके पर ही डूबने की सूझी।

इधर कर्ण भी द्रोणाचार्य आदि पर बुरी तरह कुढ़ रहा था। यहां तक कि उसने जाते समय उन्हें प्रणाम भी नहीं किया। कौरव भी इनसे टेढ़े-टेढ़े ही रहे। परन्तु पाण्डवों ने पहले ही की तरह उनका आदर-सत्कार किया। कर्ण सोचने लगा—आचार्य ने आज बनी-बनाई बाजी बिगाड़ दी। सूर्य अस्त हो गया था तो क्या हुआ था ! मसालों के उजाले में ही युद्ध हो सकता था। परन्तु आचार्य ने आज अर्जुन को बचा लिया। द्रोणाचार्य मेरे गुरु हैं, वर्ना ऐसा बदला लेता कि वह भी याद रखते !

शास्त्र में नमस्कार को पुण्य कहा है। नमस्कार में बड़ी शक्ति है। छल-कपट से नमस्कार करना दूसरी बात है, अन्यथा एक दूसरे के प्रति नम्रता दिखलाना गौरव बढ़ाने वाली बात है। नमस्कार करने वाला दूसरे को भी नम्र बना लेता है। नमस्कार करने वाला कितना ही छोटा हो

ग्रौर जिसे नमस्कार किया जा रहा है, वह कितना ही वड़ा क्यों न हो, नमस्कार करके उसे झुका लिया जाता है। नमस्कार-पद्धति छोटे-वड़े की समान क्रिया की पोषिका ग्रौर मनुष्यता की रक्षिका है। पारस्परिक सद्‌भाव और मित्रता वढ़ाना ही नमस्कार का रहस्य है। वीर पुरुष या तो किसी के ग्रागे झुकता नहीं ग्रौर यदि झुक जाता है तो फिर छल-कपट करके उसका गला नहीं काटता।

परीक्षा हो जाने के पश्चात् भीष्म जी ने द्रोणाचार्य को राजसभा में वुलाया, उनका उचित ग्रादर-सत्कार किया और यथायोग्य भेंट देकर ग्राभार माना।

१४ : गुरु-दक्षिणा

परीक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् आचार्य द्रोण ने संतोष की सांस ली। अपने शिष्यों की योग्यता देखकर वह अपने को कृतार्थ समझने लगे। वास्तव में गुरु की विद्या सुयोग्य शिष्य के पास पहुँच कर सफल होती है। द्रोण सोचने लगे—मेरे गुरुजी का मुझ पर जो ऋण था, वह बहुत अंशों में चुक गया।

लेकिन द्रोण के हृदय में अब भी एक शल्य शुभ रहा था। उन्होंने राजा द्रुपद को बांधने का जो प्रण किया था उसे वह भूले नहीं थे। इतने दिनों तक वह उसे हृदय में रखे हुए थे। अब अपने शिष्यों को प्रण-पूर्ति के योग्य देख कर उन्हें विचार आया कि राजा द्रुपद से बदला ले लेना चाहिए। अर्जुन ने मेरी प्रतिज्ञा को पूरा करने और गुरु-दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है। लगे हाथों यह कार्य और सम्पन्न हो जाय तो अच्छा है।

आचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को बुलवाया। बुलावा पाकर सभी उनके पास पहुँचे, सिर्फ कर्ण नहीं गया। सब के उपस्थित होने पर द्रोण ने कहा—तुम लोगों ने मेरे

पास शिक्षा पाई है, इसलिए मैं तुमसे गुरु-दक्षिणा मांगता हूं। तुम जानते हो कि द्रुपद ने मेरा अपमान किया है और उससे बदला लेने का मैंने प्रण किया है। द्रुपद ने कहा था—राजा का मित्र राजा ही हो सकता है, भिखारी नहीं। अतएव तुम सब उस पर चढ़ाई करके उसे बांध लाओ। यह मेरी गुरु-दक्षिणा होगी।

द्रोणाचार्य की बात सुनकर थोड़ी-सी देर के लिए सब चुप हो गए। तब शांत और गम्भीर स्वर में युधिष्ठिर बोले—गुरुजी, आपकी आज्ञा का पालन करना हम अपना कर्त्तव्य मानते हैं। विद्या सीख चुकने के बाद भी आप हमारे लिए उसी प्रकार आदरणीय और माननीय हैं, जैसे सीखते समय थे। अतएव मैं जो निवेदन करता हूं, उसका आशय आप अन्यथा न समझें। मैं यह निवेदन करता हूं—आपने हमें यह शिक्षा दी थी कि क्रोध को जीतने पर ही आनन्द मिलता है। फिर आप इस शिक्षा के विरुद्ध गुरु-दक्षिणा कैसे मांग रहे हैं? उस समय आप गरीबी के दुःख से दुःखी थे। अब हम लोग आपके सेवक हैं। आपको दरिद्रता का तनिक भी दुःख नहीं हो सकता। क्रोध सह लेने के कारण एक दिन आपने मेरी प्रशंसा की थी, लेकिन आज आप स्वयं क्रोध के वशीभूत हो रहे हैं। क्या यह उचित है? क्या यह अच्छा न होगा कि द्रुपद के पास क्षमा का संदेश भेज दिया जाय?

द्रोण—तुम नहीं समझे। मैंने तुम्हें पीट कर तुम्हारे क्षमाभाव की परीक्षा की थी। उस समय तुम्हें तो नहीं, मुझे क्रोध आया था। धर्मराज तुम हो, मैं नहीं। अतएव चाहे

सूर्य रसातल में चला जाय पर मैं अपना प्रण नहीं छोड़ने का।

युधिष्ठिर—लेकिन क्या यह उचित है, गुरुजी !

द्रोण—उचित और अनुचित का प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि मैं अपने प्रण को पूर्ण करना चाहता हूं। उसे पूर्ण किये बिना चैन न लूंगा। इस प्रण की पूर्ति के लिए मैं इतने दिनों तक तुम लोगों पर आशा लगाये रहा हूं। तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनी है तो दो। न देनी हो तो इन्कार कर दो। मेरी कोई जबर्दस्ती नहीं है। तुम्हारे इन्कार कर देने पर मैं दूसरा उपाय कर लूंगा।

अर्जुन—गुरुदेव ! इन्कार कर देने की बात ही नहीं उठती। हम लोग क्षत्रिय हैं। हम ऐसे पतित नहीं है कि गुरु के याचना करने पर भी गुरु-दक्षिणा देने से इन्कार कर दें।

वास्तव में समर्थ होने पर क्षमा करना बड़ा कठिन काम है। द्रोणाचार्य इस समय समर्थ हैं। सभी कौरव और पाण्डव उनके शिष्य हैं। इस स्थिति में द्रुपद द्वारा किये हुए अपमान को भूल जाना सरल बात नहीं है। असमर्थता की स्थिति में तो वे स्वयं चुप रह गये थे।

अन्त में कौरव और पाण्डव मिलकर द्रुपद को बांधने के लिए चले। धर्मराज ने यों तो द्रोणाचार्य को समझाया था, परन्तु जब वे नहीं समझे, तब किसी का साथ तो उन्हें देना ही था। बड़े आदमियों का यह तरीका होता है कि वे अकेले नहीं रहते, किसी के साथ ही रहते हैं।

दुर्योधन सोचने लगा—कर्ण हमारी ओर है ही। अगर आचार्य भी हमारे साथ हो जाएं तो क्या ही अच्छा हो! किसी उपाय से इन्हें प्रसन्न करना चाहिए। अगर पाण्डव साथ में न आते और अकेले हम द्रुपद को बांध लेते तो गुरुजी हमारे ऊपर बहुत प्रसन्न होते। युधिष्ठिर से तो यह असन्तुष्ट हो ही गए हैं। इस अवसर से लाभ उठा लेना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर पाण्डवों को पीछे छोड़कर दुर्योधन अपने अन्य भाइयों के साथ आगे बढ़ गया। उसने सोचा—अगर हम पहले ही द्रुपद को बांध लेंगे तो कीर्ति के साथ आचार्य की प्रसन्नता भी हमको ही प्राप्त होगी।

कौरवों को आगे बढ़ते देख कर भीम ने धर्मराज से कहा—भ्राता, कौरव आगे बढ़ रहे हैं। वे द्रुपद को बांध लेंगे तो हम लोग गुरु-दक्षिणा नहीं चुका सकेंगे।

धर्मराज ने कहा—जो बढ़ता है, उसे बढ़ने दो। हम उन्हें नहीं छोड़ते। वही हम को छोड़कर यश लेने के लिए जाते हैं तो जाने दो और यश लेने दो। हां, कदाचित् वे हार कर भागने लगें तो उस समय हमें पीछे नहीं रहना होगा। उस समय हम लोग उनके साथ हो जाएंगे और उनकी सहायता करेंगे।

भीम ने अर्जुन से भी कहा—आचार्य को गुरु-दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा तुमने ही की है। कौरवों ने द्रुपद को बांध लिया तो तुम्हारी प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी?

अर्जुन ने उत्तर दिया—भ्राता, आचार्य का प्रण पूरा होना चाहिए, फिर किसी के भी हाथ से क्यों न हो! अगर द्रुपद को जीतने का यश इन्हीं को मिलना है तो इन्हें मिलने दें। हर्ज क्या है ?

पाण्डवों को पीछे छोड़ कर कौरव आगे बढ़ गए।

दूत द्वारा द्रुपद को मालूम हुआ कि द्रोण की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए कौरवों और पाण्डवों ने चढ़ाई कर दी है। वे द्रोण के अपमान का बदला लेने आये हैं। द्रुपद सोचने लगा—मैंने द्रोण का अपमान करके अच्छा नहीं किया। मगर दूसरे ही क्षण उसे विचार हुआ—अब इस बात का विचार करने से क्या लाभ है ? अगर मुझ में वीरता है तो डटकर सामना करना ही अब एकमात्र कर्त्तव्य है।

द्रुपद ने अपनी सेना सजाकर लड़ने की तैयारी की। दोनों ओर की सेनाओं का सामना हुआ। युद्ध छिड़ गया। जब तक द्रुपद का सामना नहीं हुआ, तब तक तो कौरवों के पांव टिके रहे, उसके सामने आते ही कौरव अपनी सेना के साथ भाग खड़े हुए। द्रुपद की वीरता के सामने कौरवों की एक न चली। कौरवों को बड़ी ही निराशा हुई।

उधर पाण्डव भी समीप आ पहुंचे थे। उन्होंने कौरव-सेना को भागते देखा और परिणाम समझ लिया। अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा—भ्राता, आप यहीं ठहरिये। आप हमारे साथ आये, यह बड़ी कृपा है। आपने गुरुजी को युद्ध के विरुद्ध समझाया था, अतः आपका युद्ध में शामिल न होना ही अच्छा है।

युधिष्ठिर ने कहा—ठीक है। मैं भी यही चाहता था।

युधिष्ठिर वहीं ठहर गये और चारों पाण्डव आगे बढ़े। उन्होंने कौरवों को ललकार कर कहा—क्या आप लोग कौरव-कुल की कीर्ति में कलंक की कालिमा लगाने यहां आये हैं? यदि द्रुपद से युद्ध करने की शक्ति नहीं थी तो फिर आगे बढ़ने का हौसला ही क्यों किया था?

कौरव कहने लगे—'हम यह सोचकर आगे आये थे कि आप लोगों को कष्ट न उठाना पड़े। लेकिन फिर सोचा—द्रुपद को बांधने का काम अर्जुन के हाथ से होना ही उचित है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की है। यही सोचकर हम लोग मन लगाकर नहीं लड़े।

पाण्डव उनकी धूर्तता समझ गये। बोले—ठीक है, चलो अब चलते हैं।

पाण्डव द्रुपद के सामने पहुंचे। पाण्डवों को देखते ही द्रुपद उनकी वीरता से प्रभावित हो गया। इतने में अर्जुन के बाणों ने उसे एकदम निरुत्साह कर दिया। थोड़ी ही देर के पश्चात् अर्जुन ने द्रुपद को नाग-पाश से बांध लिया। द्रुपद ने पाण्डवों के आगे अपना अभिमान छोड़ दिया।

द्रुपद को बांधकर पाण्डव द्रोणाचार्य के सामने ले गये और उनसे कहा—'महाराज! अपनी गुरु-दक्षिणा लीजिए।'

द्रुपद द्रोण के सामने खड़ा हुआ। द्रोण ने उनसे कहा—'भिखारी राजा का मित्र नहीं हो सकता, यह बात तुम्हें याद है, द्रुपद?'

द्रुपद ने कहा—जब मैं आपके सामने बंदी की हालत में खड़ा हूं, तब तो आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी। पींजड़े में पड़े शेर पर प्रहार करना कोई वीरता नहीं है। फिर भी आप पूछते हैं तो मैं यही कहता हूं कि मुझे सब कुछ याद है।

द्रोण—तुमने तो मुझे सखा नहीं कहा था, मगर मैं तुम्हें सखा कहता हूं और पांचाल देश का उत्तरी भाग तुम्हें देता हूं और दक्षिण-भाग मैं लेता हूं। बोलो यह बात स्वीकार है ?

द्रुपद—ठीक है, अस्वीकार कैसे किया जा सकता है।

द्रोणाचार्य ने अर्जुन को आज्ञा दी कि द्रुपद को छोड़ दो। अर्जुन ने उसे छोड़ दिया। द्रोणाचार्य और द्रुपद गले लगकर मिले। परन्तु कहना चाहिए कि सिर्फ दो गले तो मिले, दो हृदय नहीं मिले। अपमान की ज्वाला को हृदय में दबाये हुए द्रुपद अपने राज्य को लौट गया।

द्रुपद के लौट जाने पर धर्मराज ने द्रोणाचार्य से कहा—गुरुजी, आपने अनावश्यक ही द्रुपद से वैर बढ़ाया है। द्रुपद आपके गले से लगकर मिला तो सही, परन्तु उसका हृदय आपके हृदय से नहीं मिला। उसके हृदय में अपमान की आग जल रही है।

द्रोण—आखिर तुम धर्मराज ही ठहरे न ! इसी से ऐसी बात कहते हो। ऐसे विचार वालों से राज्य नहीं

चलता । तुम जानते नहीं हो कि मैंने द्रुपद को किस प्रकार निर्बल बना दिया हैं । उसके राज्य का श्रेष्ठ भाग मैंने ले लिया है और निकृष्ट भाग उसके पास रहने दिया है। अब वह मुझ से बदला कैसे ले सकता है ?

युधिष्ठिर—महाराज, आप कुछ भी कहें । मुझे लगता है कि यह सब ठीक नहीं हुआ । किसी से भी अनावश्यक वैर बांधना बुरा है । इसके सिवाय ब्राह्मण को राज्य के प्रपंच में पड़ने की भी क्या आवश्यकता है ? हम आपके इतने सेवक हैं, फिर आपको कमी किस चीज की थी ?

द्रोणाचार्य ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया ।

१५ : बदले की भावना

द्रोणाचार्य को भीष्मजी ने विदाई में अच्छी सम्पति दी थी और ऊपर से द्रुपद का आधा राज्म भी मिल गया। द्रोणाचार्य अब विदा होकर द्रुपद से लिये हुए अपने राज्य में चले गये।

द्रपद ने द्रोण को आधा राज्य दे दिया, मित्र भी कह दिया और गले से भी लगा लिया, फिर भी उसके हृदय की आग नहीं बुझी। वह कहने लगा—द्रोण, तुमने मुझे क्रोध के मारे अपने शिष्यों को भेजकर पकड़ मंगाया। क्या यह तुम्हारी विद्या कुविद्या नहीं है ? ब्राह्मण को तो शांति रखनी चाहिए। हां पकड़ने वाला अवश्य वीर है और उसकी वीरता को मैं स्वीकार करता हूं, परन्तु तुम ब्राह्मण होकर क्रोध करते हो ! तुमने मुझे पकड़वा मंगाया और ऊपर से वाग्वाण मारे ? मैं अगर द्रोणरहित भूमि न कर दूं तो मेरा नाम द्रुपद नहीं।

एक बार द्रोण ने द्रुपद से बदला लिया, अब द्रुपद द्रोण से वैर भंजाना चाहता है। शास्त्र में कहा है—

वैराणुबंधीणि महब्भयाणि।

द्रोण द्वारा किया हुआ अपमान द्रुपद के हृदय में कांटे की तरह चुभने लगा। वह इसी विचार में डूबा रहता कि मैं कब द्रोण से बदला लूं। खाते-पीते, उठते-बैठते उसे बस यही एक-मात्र चिन्ता थी। वह खाना-पीना, भोग-विलास आदि सब कुछ भूल गया। उसे एक-मात्र यही स्मरण रहने लगा कि द्रोण अभी तक जीवित है।

चिन्ता मनुष्य को सब कुछ भूला देती है। एक कवि कहता है—

चिन्ता ज्वाला शरीर में, दव लागी न बुझाय।
वाहर धुआं न देखिये, भीतर ही धधकाय॥
भीतर ही धधकाय, जरे ज्यों कांच की भट्टी।
रक्त मांस जरि जाय, रहे पिंजर की टट्टी॥
कह गिरधर कविराय सुनो रे प्यारे मिन्ता!
वे नर कैसे जियें, जिन्हें तन व्यापै चिन्ता॥

चिन्ता बड़ी बुरी वलाय होती है। छोटे आदमी को छोटी और बड़ी को बड़ी चिन्ता लगी रहती है।

द्रुपद ने विचार किया कि तप किये विना काम नहीं चलेगा। द्रोण की जड़ गहरी है। कौरव और पाण्डव उसके शिष्य हैं और अब उसने मेरा आधा राज्य भी ले लिया है। फिर भी तप के सामने उसकी क्या ताकत है? मैं तप की सहायता से उसे नष्ट कर दूंगा। तप किये विना उसके नाश का और कोई सरल उपाय नहीं है।

शास्त्रानुसार बड़े-बड़े तपस्वियों ने तप के फल की

कामना (निदान) की है । तप के प्रभाव से उनका मनोरथ तो पूर्ण हुआ, किन्तु मोक्ष के लिहाज से इस प्रकार किया हुआ तप व्यर्थ हुआ ।

महाभारत में लिखा है कि द्रोण को नष्ट करने के लिए द्रुपद ने यज्ञ किया । उसे दो ब्राह्मण मिल गये, जिन्होंने यज्ञ कराया । यज्ञ की अग्नि की ज्वाला से एक पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ ।

महाभारत का यह कथन जंचता नहीं है । अग्नि की ज्वालाएं निकलना ही यज्ञ नहीं है । यज्ञ धातु के कई अर्थ होते हैं । तप भी एक प्रकार का यज्ञ है । इसी प्रकार के यज्ञ की ज्वाला से अर्थात् निदान-युक्त तप के प्रभाव से द्रुपद को आश्वासन मिला होगा कि मुझे तीन सन्तानों की प्राप्ति होगी, जिनमें से एक भीष्म को, एक द्रोण को और एक कौरव-कुल को नष्ट करेगी ।

शास्त्र में कहे हुए 'वेराणुबंधीणि महब्भयाणि' की सत्यता का यह प्रमाण है । एक वैर को वैर से मिटाने गये कि दूसरा वैर उत्पन्न हो जाता है । द्रुपद एक अपमान को मिटाने गया तो दूसरा वैर बढ़ा । इतिहासकार कहते हैं कि केवल कौरवों और पाण्डवों के विरोध से ही महाभारत नहीं हुआ था बल्कि पांचालों—कौरवों का तथा गांधारों और पाण्डवों का वैर भी महाभारत का कारण था । हो सकता है कि इतिहासकारों का यह कथन सत्य हो ।

द्रुपद आश्वासन पाकर घर आया । कुछ समय बाद

रानी ने शुभ स्वप्न देखकर धृष्टद्युम्न नामक पुत्र को जन्म दिया। जब धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ तो आकाश-वाणी हुई कि—हे राजा ! इस पुत्र द्वारा तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। यह पुत्र द्रोण का नाश करेगा।

धृष्टद्युम्न के पश्चात् शिखण्डी का जन्म हुआ। उस समय भी यह भविष्यवाणी हुई कि इस पुत्र द्वारा भीष्म का विनाश होगा।

शिखण्डी के पश्चात् द्रुपद की रानी से एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका नाम द्रौपदी हुआ। द्रौपदी बड़ी सुन्दरी थी। इसके जन्म-समय आकाशवाणी हुई कि इसकी शक्ति से कुरुवंश का नाश होगा।

द्रुपद दो पुत्र और एक पुत्री पाकर प्रसन्न हुआ। वह अपनी इच्छा-पूर्ण होने का स्वप्न देखने लगा।

भावना फलती ही है, फिर चाहे बुरी हो या अच्छी हो। जब बुरी भावना भी फलती है तो क्या अच्छी भावना नहीं फलेगी ? दोनों ही भावनाएं फलती हैं, लेकिन विचारना यह चाहिए कि परिणाम में कौन-सी भावना हितकर और शांतिप्रद है ? शुभ भावना से ही कल्याण हो सकता है।

द्रुपद को तीन संतानों के रूप में मानो तीन अनमोल रत्न मिल गये। वह सोचता—धृष्टद्युम्न धीर-वीर है। द्रौपदी कन्या है और शिखण्डी दीखता तो पुरुष-सा है, परन्तु है नपुंसक। संसार में पुरुष, स्त्री और नपुंसक यही तीन

प्रकार के मनुष्य होते हैं । मेरे यहां ये तीनों प्रकार के मनुष्य आये हैं। देखें, ये क्या करते हैं ? लेकिन तप की शक्ति से इनकी प्राप्ति हुई हैं । शिखन्डी के विषय में आकाशवाणी ने कह दिया है कि यह भीष्म को मारने वाला होगा । इसलिए नपुंसक है तो हर्ज नहीं । मुझे किसी प्रकार की चिन्ता करने की भी आवश्यकता नहीं है ।

शिक्षा के योग्य होने पर द्रुपद ने धृष्टद्युम्न और शिखण्डी को शस्त्र-विद्या में पारंगत किया । धृष्टद्युम्न भी कर्ण और अर्जुन के समान महारथी माना जाने लगा । उसे देखकर द्रुपद सोचता—मेरा यह पौधा कब बड़ा हो और कब मेरी आशा पूरी हो !

उधर द्रौपदी को उसकी माता ने चार प्रकार की शिक्षा दी । कन्या को चार प्रकार की शिक्षा दी जाती है। पहले कुमारी-अवस्था की शिक्षा दी जाती है, जिसमें अक्षर-ज्ञान का, भोजन-विज्ञान और सदाचार के संस्कार आदि का समावेश होता है । दूसरी शिक्षा वधूधर्म को दी जाती है, जिसमें यह बतलाया जाता है कि ससुराल में जाकर सास, श्वसुर और पति आदि के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए । तीसरी शिक्षा मातृधर्म की दी जाती है । कन्या के आगे चलकर जब बालक होते हैं और वह माता बनती है तो उस पर संतान का उत्तरदायित्व आ पड़ता है । उस समय उसे क्या करना चाहिए—संतान का पालन-पोषण किस प्रकार करना चाहिए, यह मातृधर्म कहलाता है। चौथी शिक्षा में उसके जीवन के अन्तिम भाग का कर्त्तव्य सिखलाया जाता है। विधवाधर्म का भी इसी में समावेश होता है ।

कर्मयोग से कदाचित् विधवा होना पड़े तो किस प्रकार वैधव्य–अवस्था बितानी चाहिए, खान - पान, रहन - सहन किस प्रकार का होना चाहिए, इत्यादि बातों की शिक्षा दी जाती है ।

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा था—आपके घर में एक विधवा अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि विधवा धर्म को जानने वाली होती है और घर में रहने पर धर्म को जानने वाली देवी का दर्शन हो जाता है ।

विदुर ने ऐसा कहा था, लेकिन आजकल के लोग घर की विधवा का तिरस्कार करने में, उसकी अवहेलना करने में और किसी तरह उसे घर से बाहर निकाल देने तक में संकोच नहीं करते । लोग विधवा स्त्री का मुंह तक नहीं देखना चाहते—मुंह देखने में अपशकुन समझते हैं । लेकिन वही स्त्री अगर पुनर्विवाह कर ले तो फिर सुहागिन बन कर शकुन करने वाली हो जाती है ! इस प्रकार का अन्याय होने पर भी उन विधवाओं को धन्य हैं जो अपनी मर्यादा का पालन करती हैं । किसी भी स्त्री को सिर्फ विधवा होने के कारण अपमानित करना सतीत्व का अपमान करना है । यह शील का और धर्म का अपमान है । विवेक पुरुष इससे सदैव बचते रहते हैं ।

कहा जा सकता है कि पहले–से ही विधवाधर्म की शिक्षा देने से क्या लाभ है ? उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि पहले से ही मातृधर्म या वधूधर्म की शिक्षा देने से क्या लाभ है ? वास्तव में प्राथमिक अवस्था में जीवन भर की भूमिका तैयार हो जानी चाहिए । कब कैसा अवसर आ जाता है, यह नहीं कहा जा सकता ।

१६ : द्रौपदी का स्वयंवर

द्रौपदी उत्कृष्ट रूप-यौवन से सम्पन्न हुई। द्रौपदी को विवाह के योग्य देखकर द्रुपद विचार करने लगे कि इसका विवाह किसके साथ किया जाय ? अगर मैं अपनी पसंदगी के वर के साथ विवाह करूंगा तब तो वह मेरी ही पसंदगी होगी, द्रौपदी की नहीं। ऐसा करना उचित नहीं। अच्छा यही है कि कन्या स्वयं ही अपना पति पसंद कर ले और यह कन्या उत्कृष्ट बुद्धि वाली है। मेरा पसंद किया हुआ वर इसे पसंद न आया तो जीवन भर का दुःख हो जायगा।

भारत में बुद्धिमती स्त्रियां तो अनेक हुई हैं, लेकिन द्रौपदी अपने ढंग की एक ही बुद्धिमती हुई है। वह राजनीति की जटिल समस्याओं को भी हल कर देती थी। सभा में कृष्ण के सामने भाषण देकर उन्हें अपनी बात का समर्थक बना लिया था बुद्धिमत्ता के साथ उसमें नम्रता भी थी। अतएव वह युधिष्ठिर के उत्तर के आगे झुक भी जाती थी। नम्रता तो सीता में भी थी किन्तु द्रौपदी में नम्रता के साथ दृढ़ता भी थी।

द्रुपद ने सोचा—यह असाधारण कन्या स्वयं अपना पति चुन ले तो अच्छा है। इस प्रकार विचार कर उसने द्रौपदी को बुला कर कहा—पुत्री ! मैं तेरा स्वयंवर करना चाहता हूं। साथ ही एक परीक्षा भी करने की इच्छा है। उस परीक्षा के साथ स्वयंवर करने पर यह भी हो सकता है कि तुझे कुमारी ही रह जाना पड़े। मैं चाहता हूं कि सोने का एक स्तम्भ बनवाकर उस पर राधा नाम की पुतली लगाऊं। उसके नीचे आठ चक्र रख कर चलाऊं और तेल का कड़ाह रखूं। तेल के कड़ाह में राधा की परछाई देखकर जो उसे वेध देगा, वही तेरा पति होगा। उसे कोई न वेध सका तो तू कुमारी ही रह जाएगी। अब बता, तू क्या कहती है ?

आज तो कहा जाता है कि कन्या और गाय को जहां दें, वहीं जाना पड़ेगा। उन्हें बोलने का हक नहीं है। फिर चाहे किसी बूढ़े के साथ रुपयों के बदले में ही हम क्यों न बेच दें ? लेकिन इस प्रकार धर्म की घात करने से, घात करने वाला सकुशल नहीं रह सकता और फिर पश्चात्ताप ही शेष रहता है।

द्रुपद की बात सुनकर द्रौपदी कुछ-कुछ मुस्करा दी। द्रुपद ने समझ लिया कि कन्या को मेरी बात स्वीकार है।

द्रुपद ने सुन्दर स्वर्ण-स्तम्भ खड़ा करवाया। उसके ऊपर एक पुतली लगवाई। आठ चक्र लगवाये। चार चक्र एक ओर घूमते थे और चार दूसरी तरफ घूमते थे। इतना करके स्तम्भ के नीचे तेल का कड़ाह रखा, जिसमें देखकर पुतली की आंख वेधी जा सके।

द्रुपद ने द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा कर दी। सब राजाओं को आने के लिए आमंत्रण भेज दिये। श्रीकृष्ण के पास भी आमंत्रण भेजा गया कि दसों दशार्ह राजकुमारों को लेकर पधारें। धृतराष्ट्र, जरासंघ और शिशुपाल आदि के पास भी निमंत्रण गये। नियत समय पर सभी राजा-महाराज सज-धज कर तैयारी के साथ द्रुपद के यहां आये। कौरव और पाण्डव भी स्वयंवर में सम्मिलित हुए।

यहाँ एक बात विचारणीय है। जिसका अपमान किया गया था, उसी द्रुपद की कन्या का स्वयंवर था। प्रथम तो द्रुपद ने इस बात का विचार न करके उन्हें आमंत्रण भेजा। आमंत्रण पाकर भी कौरव पाण्डव सोच सकते थे कि द्रुपद के यहां जाना चाहिए या नहीं ? बात यह है कि वीर पुरुष मकोड़ों की तरह वैर नहीं रखते। कौरव और पाण्डवों ने विचार किया—कन्या उत्कृष्ट है और द्रुपद वीर है। उसे द्रोणाचार्य को प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए ही बांधना पड़ा था। लेकिन इस घटना से कारण द्रुपद की कन्या के स्वयंवर में न जाना अनुचित होगा। बल्कि सभव है, द्रुपद को बांधने वाला ही द्रुपद की कन्या पाएगा।

इधर दुर्योधन ने कर्ण से कहा—बड़ा अच्छा अवसर आया है। तुम बड़े धनुर्धर हो। स्वयंवर में द्रुपद की कन्या को राधाबेध करके जीत लोगे तो तुम्हारा सूतपुत्र होनें का अपवाद मिट जायगा। कर्ण ने दुर्योधन की सलाह मान ली। वह भी साथ हो गया।

स्वयंवर के निमित्त आये हुए सभी राजाओं की यही

इच्छा थी कि द्रौपदी हमें मिले तो अच्छा। पर वे यह नहीं देखते थे कि राधावेध की शक्ति हम में है या नहीं ?

जैसे द्रौपदी को सभी चाहते हैं, उसी प्रकार मुक्ति भी सभी चाहते हैं। किन्तु जैसे आठ चक्र भेद कर पुतली भेदने पर ही द्रौपदी प्राप्त की जा सकती है, उसी प्रकार आठ कर्मो को भेदने पर, आत्मा को पूर्ण रूप से अन्तर्मुख करने पर ही मुक्ति मिलती है। जिस प्रकार द्रौपदी के लिए किसी का पक्ष नहीं है—जो राधावेध करे, वही उसे पा सकता है, उसी प्रकार मुक्ति के लिए भी किसी का पक्षपात नहीं है, जो आठ कर्म भेदे वही मुक्ति पा सकता है।

आजकल क्रियात्मक धर्म के विषय में बहुत आलस्य फैल गया है लेकिन आलस्य से काम नहीं चलता। जैसे राधावेध के लिए पहले के अभ्यास की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर धर्म के अभ्यास की आवश्यकता है।

विद्या की उन्नति के लिए प्राचीन-काल में ऐसे-ऐसे आयोजन किये जाते थे। व्याकरण के पण्डित भी कभी-कभी घोषणा किया करते थे कि जो विद्वान् अमुक प्रयोग सिद्ध करेगा, उसे मैं अपनी कन्या दूंगा। इससे विभिन्न विद्याओं की उन्नति होती थी और लोग आलस्य में नहीं पड़े रहते थे। मगर आजकल तो कन्या का विवाह धन के अधीन रखा जाता है। चाहे कोई बूढ़ा है, खिजाव से बाल काले किये हुए हैं नकली दांत लगवाये हैं, फिर भी अगर उसके पास धन है तो वही कन्या पाएगा ! इस घातक पद्धति से

समाज अत्यन्त दुर्बल और दूषित हो गया है।

द्रुपद ने कन्या को व्याहने की शर्त आमंत्रण-पत्र में स्पष्ट लिख दी थीं, जिससे कोई अपना अपमान न माने और कलह या युद्ध का प्रसंग उपस्थित न हो। द्रुपद का आमंत्रण पाकर कई राजा सोचने लगे—हमने कई धनुष चढ़ाये हैं, हम द्रुपद के यहां भी धनुष चढ़ाएंगे और लक्ष्य को भेद देंगे। हम अपने कुल का अपमान न होने देंगे।

अनेक राजागण इसी आशा से स्वयंवर में आये थे। भीष्म और धृतराष्ट्र आदि कई महानुभावों के आगमन का उद्देश्य दूसरा था। उन्होंने सोचा था कि इस अवसर पर देश-देश के वीर नरेशों और क्षत्रियों का समागम होगा और पारस्परिक परिचय बढ़ेगा। इसीलिए वे अपने कुमारों के साथ उपस्थित हुए थे।

कृष्ण ने सोचा—मुझे विवाह तो करना नहीं है और राधा-बेध करना कौन जानता है और द्रौपदी किसे मिलेगी, यह भी मैं जानता हूं। लेकिन इस बात को प्रकट करना योग्य नहीं है। फिर भी वहां जाने से सबके साथ मुलाकात होगी और क्षत्रियों की वास्तविक स्थिति का प्रत्यक्ष परिचय होगा।

देव भी कृष्ण के सेवक थे। राधाबेध करना उनके लिए कोई कठिन काम नहीं था लेकिन उन्हें नया विवाह करना अभीष्ट ही नहीं था।

ग्रन्थाकार का कथन है कि द्रुपद के यहां पन्द्रह दिन

तक राजाओं का आगमन होता रहा। सोलहवां दिन स्वयं-वर का था। राजा द्रुपद पन्द्रह दिनों तक आगत राजाओं के स्वागत-सत्कार में ही लगे रहे।

ग्रन्थ में द्रौपदी के स्वयंवर के निमित्त जिन–जिन राजाओं के नाम और स्थान का उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वयंवर–वर्णन भारत के तत्कालीन राजाओं का और कुछ अंश में भारत की स्थिति का एक इतिहास है। उसमें लिखा है कि स्वयंवर में यवन राजा भी आया था। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यवन राजा वास्तव में ही आया था अथवा यह कल्पना है, परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि कदाचित् यवन राजा द्रुपद की प्रतिज्ञा पूरी कर देता तो उसे द्रौपदी विवाही जाती या नहीं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यवनराज बिना आमंत्रण पाये स्वयंवर में सम्मिलित होने का साहस ही नहीं कर सकता था। उसे आमंत्रण मिला होगा। लेकिन हमें इस विषय में गहरा उतरने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो यह देखना है कि उस समय भारत का सम्बन्ध कहां तक था ?

इतिहास एवं जैन सूत्रों के चरितानुयोग के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन समय की तरह, उस समय यह समस्या जटिल नहीं बनी थी और परहेज नहीं किया जाता था। परस्पर कन्या ली व दी जाती थी। इसका प्रमाण यह है कि चक्रवर्ती और वासुदेव दिग्विजय करके प्रत्येक देश के राजा की कन्या को ब्याहते थे और इसी कारण चक्रवर्ती की बत्तीस हजार जनपद कल्याणी

रानियां व वासुदेव की सोलह हजार रानियां जैन सूत्रों
बताई गई हैं। रानियां तो अधिक होती हैं परन्तु प्रध
राजकन्या होती थी। यह प्रणाली महाराज चन्द्रगुप्त
अशोक तक रही। बाद में मुगल लोग इस देश में आये औ
बलात्कार करने लगे, तब घृणा पैदा हुई है और तब
खान-पान व कन्या के लेन-देन का व्यवहार बन्द हुआ है

स्वयंवर का दिन आया। पिछली रात्रि के समय
अपने वैभव के साथ स्वयंवर-मंडप में पधारने की सूच
सब राजाओं को कर दी गई थी। विशाल मंडप तै
किया गया था। ग्रन्थ में यह भी बतलाया गया है कि मंड
में किस प्रकार की शिल्पकला से काम लिया गया था
मंडप की रचना का वर्णन करते हुए बतलाया गया है
उसमें ऐसी योजना की गई थी कि सब आमंत्रित नरे
के अतिरिक्त राजकुल की महिलाएं तथा अन्य दर्शक स्त्र
और पुरुष भी सुभीते से बैठ सकें। इसी प्रकार राजा द्रुप
तथा उनके पुत्रों के लिए अलग बैठकें बनाई गई थीं। द्रौ
के खड़े रहने का स्थान अलग था। मंडप के मध्य के स्त
पर पुतलियां बनाई गई थीं। इस प्रकार वह स्वयंवर-मंड
शिल्पकला में कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित हुआ था।

राजा लोग स्वयंवर-मंडप में जाने के लिए तैयार हो
लगे! जो राजा लोग श्रीकृष्ण के पक्ष के थे, वे तो श
और गम्भीर थे किन्तु जरासंध के पक्ष के राजा अपनी-अ
हेकड़ी की बातें बघारते थे। उनमें से कोई कहता थ
धनुर्विद्या में कौन मेरी बराबरी कर सकता है? मैं लक्
बेध कर कन्या का वरण करूंगा।

दूसरा कहता—तुम मेरा मुकाबिला नहीं कर सकते। तुमने धनुर्विद्या सीखी तो है पर मेरे समान नहीं। यह स्वयं-वर तो हमारे भाग्योदय से हुआ है। दूसरे राजा तो दर्शक बनकर आये हैं।

तीसरा कहता—अजी, मैं किसी की दाल नहीं गलने दूंगा। द्रौपदी का मेल मेरे साथ हुआ, तब तो ठीक है, वर्ना मौत के साथ विवाह करना पड़ेगा।

चौथा कहता—वृथा गाल मत बजाओ। मारना सरल नहीं है। द्रुपद बहुत चतुर है। इसीलिए उसने इतनी कठोर शर्त रखी है, जिसका पूरा होना ही कठिन है। पहले तो धनुष चढ़ाना ही कठिन है। कदाचित् चढ़ भी गया तो चक्रों के चक्कर में होकर बाण का पार होना अतिशय कठिन है। कदाचित् बाण पार भी हो गया तो राधा की बारीक आंख को छेदना तो सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार धनु-विद्या में तो सभी हार जाएंगे। उसके बाद रूप-सौन्दर्य की पूछ होगी। देखते हैं, रूप के बाजार में किसे अधिक कीमत मिलेगी? मेरा रूप कामदेव से कुछ भी कम नहीं है। हम अपना सारा समय रूप सजाने में ही लगाते हैं। रूप ही स्त्री के हृदय को अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार रूप की कीमत होने पर हमारे ही गले में वरमाला पड़ेगी। धनुष तो बेचारा धरा रह जायगा!

पांचवें ने कहा—अजी, कुल के आगे रूप को कौन पूछता है।

कोई कहे कुल है बड़ा, रूप न आवे काम।
वरें द्रौपदी हम सही, कुल में मेरा नाम॥

तुम रूप-रूप चिल्ला कर भांडों वाले तमाशे किया करो, रूप से होता कुछ भी नहीं है। ऐसा रूप तो बहु-रूपिया भी बना सकता है। सज-धज को देखकर द्रौपदी किसी को अपना पति बनाने वाली नहीं। वह कुलीन है, कुल का महत्त्व समझती है। क्या उसने यह शिक्षा नहीं पाई होगी कि कुल में और रूप में बड़ा अन्तर है। वह अवश्य जानती होगी कि रूप का प्रभाव कब तक रहता है और कुल का प्रभाव कब तक रहता है। कुल की विशेषता तो वृक्षों में भी देखी जाती है। जो वृक्ष कुलवान् होते हैं उनके फूल देखने में चाहे अच्छे न हों परन्तु सुगंधयुक्त होते हैं और कुलहीन वृक्षों के फूल देखने में सुन्दर होने पर भी सुगंधहीन होते है। हम कुलवान् हैं, इसलिए द्रौपदी हमारे ही गले में माला डालेगी। रूप का बखान मत करो। अन्त में आपका मुंह फीका पड़ जायगा !

छठा बोला—भाई, कुल से भी बड़ी चीज गुण है। चमत्कार को नमस्कार होता है।

सातवां बोला—आप लोग मन के लड्डू खाकर संतुष्ट हो रहे हैं, इसमें मैं बाधा डालना ठीक नहीं समझता। लेकिन सचाई यह है कि असली चीज बल है। मैं सब से अधिक बलवान् हूं। मैं गदायुद्ध कर सकता हूं, मल्लयुद्ध कर सकता हूं और अपने बल की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकता हूं। सच पूछो तो मुझ बलवान् का ही द्रौपदी पर अधिकार है।

बुरी प्रकृति के लोग इस प्रकार अकड़ रहे थे। भली प्रकृति वाले कहते थे—तुम अकेले ही विद्यावान्, रूपवान्,

कुलवान् या बलवान् नहीं हो। स्वयंवर-मण्डप में चल कर देखना, क्या होता है! पहले का अभिमान पीछे अपमान बन जाता है।

राजा लोग सज-धज कर स्वयंवर-मण्डप में उसी प्रकार प्रवेश करने लगे, जैसे समुद्र में नदियां प्रवेश करती हैं। द्रुपद ने पहले से ही ऐसी सुव्यवस्था कर रखी थी कि किसी प्रकार की गड़बड़ न हो और सब आने वाले अपने अपने आसनों पर बैठ जाएं।

श्रीकृष्ण के आने पर द्रुपद ने उठ कर आदर के साथ उनका स्वागत किया। फिर द्रुपद ने कहा—इस सभाभवन में शांति है, इसमें मैं आपका ही प्रभाव समझता हूं। किसी की आकृति व प्रकृति का ही ऐसा प्रभाव होता है कि जिससे शांति का वातावरण बना रहता है। आपने यहां पधार कर बड़ी कृपा की है। मेरा गौरव बढ़ाने के लिए आप पधारे हैं, इसलिए मैं आपका आभारी हूं।

इस प्रकार की स्तुति करके द्रुपद ने उन्हें बिठलाया। कृष्ण की आज्ञा से द्रुपद भी उनके पास बैठ गये। भीष्म आदि भी समीप ही बैठे थे।

कृष्ण का इतना सम्मान करते देख कर द्रुपद को दूसरे राजा बड़े गौर से देखने लगे। आपस में काना-फूंसी होने लगी—द्रुपद ने कृष्ण का इतना सम्मान करके पक्षपात किया है। स्वयंवर-भवन में कौन बड़ा और कौन छोटा? यहां तो सबका समान-सत्कार होना चाहिए? कृष्ण का इतना सत्कार करने की क्या आवश्यकता थी? प्रकट में

कुछ कह नहीं सकते, नहीं तो बतला देते कृष्ण कैसे हैं? लेकिन क्या हुआ? राधावेध के समय सब शूरवीरता प्रकट हो जाएगी।

एक ओर महिलाएं मङ्गलगान कर रही थीं और दूसरी ओर मङ्गल-वाद्य बज रहे थे। उसी समय द्रुपद ने द्रौपदी को लाने की आज्ञा दी। द्रौपदी शृङ्गार करके, अपनी सखियों के साथ, पालकी में बैठ कर आई। द्रुपद की आज्ञा से पालकी के पर्दे उठा दिये गये। द्रौपदी बाहर आई।

जब सीता रावण के यहां से पालकी में बैठ कर रामचन्द्र के पास आने लगी थी तब उसके दर्शन करने के लिए लोग एक दूसरे पर टूट पड़ रहे थे। कोलाहल सुन कर राम ने पूछा—यह कोलाहल क्यों है? उत्तर मिला—सीताजी आ रही हैं। उनके दर्शन के लिए लोग टूट पड़े हैं। तब राम ने कहा—सीता को मैंने अकेले ने नहीं जीता है, सब ने सहायता दी है। इसलिए सीता को नीचे उतार दो ताकि सब देख लें।

द्रुपद की आज्ञा से पालकी का पर्दा हटा दिया गया और द्रौपदी बाहर आ गई। द्रौपदी उस समय ऐसी जान पड़ती थी जैसे बादलों के हट जाने पर पूर्णिमा का चन्द्रमा निकला हो। जो लोग धीर थे, वे तो गम्भीर बने रहे परन्तु कामी जन कहने लगे—चाहे राज्य ही क्यों न चला जाय परन्तु द्रौपदी को बिना जीते न रहेंगे।

कुमारी द्रौपदी नीचे दृष्टि किये सभा में आई। द्रौपदी को भवन में आई देख कर राजा लोग चित्रलिखित से रह

गए। वे कल्पना करने लगे कि यह देवकन्या है, अप्सरा है या स्वर्गीय विभूति है ? यह जिस घर में रहेगी, वह स्वर्ग बन जायगा।

कुछ लोग सोचने लगे—अच्छा हुआ कि इस स्वयंवर में आ गये, अन्यथा यह अनुपम सौंदर्य-राशि कहां देखने को मिलती है ? हम क्षत्रिय हैं। भूमि और भामिनी के लिए कट मरते हैं। अतः या तो कटकर मर जाएंगे या इसे व्याहेंगे ही।

संसार की शक्ति पुण्य भी उत्पन्न करती है और पाप भी। काम दोनों ही होते हैं, परन्तु आप देखें कि आपको क्या करना है ? आज द्रौपदी नहीं है, लेकिन रूपवती स्त्रियां तो आज भी हैं। उन्हें देखकर आपको क्या विचार करना चाहिए, यह देखें। जब कोई सुन्दरी दृष्टि में आ जाय तो पाप-भावना से बचकर यही सोचना चाहिए कि यह स्त्री पुण्य का प्रभाव प्रकट कर रही है। इस स्त्री ने पुण्य किया होगा, दान दिया होगा और तप किया होगा, तभी इसे ऐसा सौन्दर्य मिला है। इस प्रकार सौन्दर्य पर मुग्ध न होकर सौन्दर्य के असली कारणों पर मुग्ध होना चाहिए। बिजली के प्रकाश को देखकर पतंग यह नहीं सोचता कि यह प्रकाश कहां से आया है ? वह उस पर टूट पड़ता है और अकसर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। वैज्ञानिक ऐसा नहीं करता। वह प्रकाश उत्पन्न होने की सारी प्रक्रिया पर विचार करता है। सुन्दरी स्त्री को देखकर आपको भी पतंग की भांति अविवेक से काम नहीं लेना चाहिए।

स्वयंवर-मंडप में द्रौपदी निकली है ...

कुछ कह नहीं सकते, नहीं तो बतला देते कृष्ण कैसे हैं ? लेकिन क्या हुआ ? राधावेध के समय सब शूरवीरता प्रकट हो जाएगी ।

एक ओर महिलाएं मङ्गलगान कर रही थीं और दूसरी ओर मङ्गल-वाद्य बज रहे थे । उसी समय द्रुपद ने द्रौपदी को लाने की आज्ञा दी । द्रौपदी शृङ्गार करके, अपनी सखियों के साथ, पालकी में बैठ कर आई । द्रुपद की आज्ञा से पालकी के पर्दे उठा दिये गये । द्रौपदी बाहर आई ।

जब सीता रावण के यहां से पालकी में बैठ कर रामचन्द्र के पास आने लगी थी तब उसके दर्शन करने के लिए लोग एक दूसरे पर टूट पड़ रहे थे । कोलाहल सुन कर राम ने पूछा—यह कोलाहल क्यों है ? उत्तर मिला—सीताजी आ रही हैं । उनके दर्शन के लिए लोग टूट पड़े हैं । तब राम ने कहा—सीता को मैंने अकेले ने नहीं जीता है, सब ने सहायता दी है । इसलिए सीता को नीचे उतार दो ताकि सब देख लें ।

द्रुपद की आज्ञा से पालकी का पर्दा हटा दिया गया और द्रौपदी बाहर आ गई । द्रौपदी उस समय ऐसी जान पड़ती थी जैसे बादलों के हट जाने पर पूर्णिमा का चन्द्रमा निकला हो । जो लोग धीर थे, वे तो गम्भीर बने रहे परन्तु कामी जन कहने लगे—चाहे राज्य ही क्यों न चला जाय परन्तु द्रौपदी को बिना जीते न रहेंगे ।

कुमारी द्रौपदी नीचे दृष्टि किये सभा में आई । द्रौपदी को भवन में आई देख कर राजा लोग चित्रलिखित से रह

गए। वे कल्पना करने लगे कि यह देवकन्या है, अप्सरा है या स्वर्गीय विभूति है ? यह जिस घर में रहेगी, वह स्वर्ग बन जायगा।

कुछ लोग सोचने लगे—अच्छा हुआ कि इस स्वयंवर में आ गये, अन्यथा यह अनुपम सौंदर्य-राशि कहां देखने को मिलती है ? हम क्षत्रिय हैं। भूमि और भामिनी के लिए कट मरते हैं। अतः या तो कटकर मर जाएंगे या इसे व्याहेंगे ही।

संसार की शक्ति पुण्य भी उत्पन्न करती है और पाप भी। काम दोनों ही होते हैं, परन्तु आप देखें कि आपको क्या करना है ? आज द्रौपदी नहीं है, लेकिन रूपवती स्त्रियां तो आज भी हैं। उन्हें देखकर आपको क्या विचार करना चाहिए, यह देखें। जब कोई सुन्दरी दृष्टि में आ जाय तो पाप-भावना से बचकर यही सोचना चाहिए कि यह स्त्री पुण्य का प्रभाव प्रकट कर रही है। इस स्त्री ने पुण्य किया होगा, दान दिया होगा और तप किया होगा, तभी इसे ऐसा सौन्दर्य मिला है। इस प्रकार सौन्दर्य पर मुग्ध न होकर सौन्दर्य के असली कारणों पर मुग्ध होना चाहिए। बिजली के प्रकाश को देखकर पतंग यह नहीं सोचता कि यह प्रकाश कहां से आया है ? वह उस पर टूट पड़ता है और अकसर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। वैज्ञानिक ऐसा नहीं करता। वह प्रकाश उत्पन्न होने की सारी प्रक्रिया पर विचार करता है। सुन्दरी स्त्री को देखकर आपको भी पतंग की भांति अविवेक से काम नहीं लेना चाहिए।

स्वयंवर-मंडप में द्रौपदी बिजली के प्रकाश की तरह

हैं। कामी लोग उसे देखकर पतंग की तरह जलते हैं। चरित्रवान् राजा गम्भीर होकर निर्विकार भाव से उसे देख रहे हैं।

सभी को शांत देख कर द्रुपद ने अपने पुत्र धृष्टद्युम्न से कहा—आये हुए सब राजाओं का स्वागत करके प्रण सुना दो।

धृष्टद्युम्न ने खड़े होकर कहा—नरेन्द्रगण, आपने हमारा निमन्त्रण स्वीकार करके यहां पधारने का कष्ट किया है, इसलिए मैं आप सबका आभारी हूं। आप लोग मेरी बहिन द्रौपदी के निमित्त से आये हैं। मेरी बहिन एक है और आप अनेक हैं। अतएव मैं आपके कर्त्तव्य पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं।

आप लोग राजा हैं, क्षत्रिय हैं। धर्म की रक्षा करना आप सब का कर्त्तव्य है। सबल से निर्बल की रक्षा करना, यहां तक कि निर्बल की रक्षा करने में अपने प्राण भी होम देना क्षात्रधर्म है और इस धर्म को धारण करने वाला क्षत्रिय कहलाता है। धर्म की रक्षा के लिए ही आपका आगमन हुआ है। धर्मरक्षा का भार मैं आपको सौंपता हूं। आप अनेक हैं और इस कारण आप चाहें तो इस राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं, लेकिन आप सब उच्चकुलीन हैं। अतएव मुझे विश्वास है कि आप मेरे पिताजी को शांति पहुँचाएंगे और धर्म की रक्षा करेंगे।

मेरी बहिन सबके समक्ष उपस्थित है। आप बहुतों में से वह किसी एक को ही वरण करेगी। हम भी किसी

एक को देने के लिए तैयार ही हैं। लेकिन शेष राजाओं को यह नहीं सोचना चाहिए कि द्रौपदी अमुक को क्यों दी गई और अमुक को या हमको क्यों नहीं दी गई ? जिस शर्त की पूर्ति पर बहिन का विवाह निर्भर है, आप उस शर्त की पूर्ति में सहायक बनें, यही मेरी प्रार्थना है। आप मेरे अतिथि हैं और मैं आपका सेवक हूं। कहावत—'है घर आया, मां का जाया।' अर्थात् घर पर आया, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो, भाई के समान है और उसका सत्कार करना नैतिक धर्म है। मैं आपका सत्कार करना चाहता हूं लेकिन वह औचित्य और शक्ति के अनुसार ही हो सकता है।

मेरी प्रार्थना है कि आप हमें सेवक समझ कर हमारे धर्म की रक्षा करेंगे। आपको प्रतिज्ञा का भलीभांति पता है और उस प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिए ही आप पधारे हैं। फिर भी मैं संक्षेप में उसे दोहराता हूं—

हे सभ्य उपस्थित
हे धर्म–धुरन्धर !
धन ध्यान सुनो
जिसे पूर्ण करना है।
वह लखो सामने !
जिसकी चोटी पर मीन बनी
है जड़ में उस ही खंभे की
उसके निकट

जो वीर तेल में मछली
शर चढ़ा आंख को बेधे
बस उसी वीर धनुर्धारी के
जयमाल गले में पहनाकर
कृष्णा उसे वरेगी

वही वीर मैदान में उठ कर आये।
अपने भुजबल को यहां किस्मत से अजमाये।

क्योंकि सोना
और शस्त्र
बस इसी तरह,
हैं वीरवरों के
अस्तु, उठो भूपाल गण !
लक्ष्य बेध कर
इम्तिहान है कौमी
देखें कितना पानी
निज वंश के नाम
कुल का गौरव
देखें तुम में से कौन वीर,
जो वरे द्रौपदी भगिनी ?

इतना कहकर वे खामोश हुए

जोशीले शब्दों को सुन कर
आंखों ने फौरन रंग बदला
हड़बड़ा के झटपट
फिर तुरन्त चले आंधी से
दांतों से ओंठ काटते थे,
मन्थन के शर–जाल से बिंधे
देखते परस्पर वीरवर।

धृष्टद्युम्न ने स्पष्ट कर दिया कि द्रौपदी घमण्ड से नहीं, पराक्रम से मिलेगी। जो भी राधाबेध करेगा, वही द्रौपदी के हाथ से वरमाला पहनेगा। इसलिए उठो और अपना पराक्रम दिखलाओ।

धृष्टद्युम्न की घोषणा सुन कर राजा लोगों को जोश चढ़ा। वे उत्तेजित होकर उठे और दांतों से ओंठ चबाते हुए धनुष उठाने लगे। आपस में कहने लगे—पहले मैं बेधूंगा, पहले मैं वेधूंगा। मार्ग में खड़े प्रतिहारी ने विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की—धैर्य से काम लीजिए। क्रमशः पधारिये।

द्रौपदी की सखी प्रत्येक राजा का मुंह काच में दिखला कर परिचय देती और कहती थी—'यह राजा ऐसे बलवान् हैं। अगर यह लक्ष्य बेधें और तुम इनके गले में वरमाला डालो तो अच्छा है।'

सखी की बात सुनकर द्रौपदी मुस्किरा देती। द्रौपदी की दृष्टि सब राजाओं पर से हट कर अर्जुन पर चली गई

थी। उसका हृदय अर्जुन को ही चाहता था।

राजा लोग स्तंभ के निकट पहुंच कर लक्ष्य वेधने का प्रयत्न करने लगे, परन्तु धनुष का उठाना ही कठिन हो गया। न जाने द्रौपदी का सत्य धनुष में आ गया था या उसका मनोबल धनुष को भारी बना रहा था या और कोई बात थी। लेकिन जोश खाकर उठाने के लिए आये हुए राजा लोगों से धनुष नहीं उठा। लक्ष्य वेधने की बात तो दरकिनार रही, कई राजा तो धनुष खिसका ही नहीं सके!

धनुष उठाने और लक्ष्य वेधने के लिए राजा लोग आते तो थे सिंह की तरह गरजते हुए लेकिन लौटते थे उतरा हुआ मुंह लेकर। कई एक तो धनुष उठाने के प्रयत्न में स्वयं गिर पड़े। यह दशा देख कर दर्शक हंसते और कहते—कुल को खूब उज्ज्वल किया।

धनुष न उठने पर और ऊपर से अपना उपहास सुनकर राजा लोग बड़े लज्जित होते और सोचते, स्थान मिले तो जमीन में ही धंस जाना अच्छा!

कृष्ण पर विश्वास रखने वाले उनके पक्ष के राजा कृष्ण की ओर देखते थे और सोचते थे कि उनकी आज्ञा के बिना धनुष उठाने और लक्ष्य वेधने के लिए जाना ठीक नहीं है। कृष्ण की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होगा। अब तक जो राजा गये उन्होंने कृष्ण की सम्मति नहीं ली और इसी कारण उन्हें लज्जित होना पड़ा।

धनुष उठाने में असफल हुए राजाओं को देखकर

दुर्योधन सोचने लगा—धिक्कार है इन्हें ! यह भी कोई राजा हैं ! यह धनुष कोई राक्षसी धनुष तो है नहीं मगर इनमें शक्ति ही नहीं है ! मैं अभी धनुष उठाकर और चढ़ा कर वेधता हूं ।

दुर्योधन कमर कस कर उठा । उसे उठते देख गांधारी सोचने लगी—द्रौपदी मेरी बहू बनकर जब मेरे पैरों में पड़ेगी तो मेरा बड़ा सौभाग्य होगा ।

यह सोचकर गांधारी ने द्रौपदी पर निगाह डाली । उसे विश्वास हो गया था कि जब द्रौपदी दुर्योधन को चाहेगी तभी धनुष उठ सकेगा और तभी लक्ष्य-बेध होगा । लेकिन गांधारी ने द्रौपदी का मुंह उतरा हुआ देखा । वह निराश होकर सोचने लगी—जब द्रौपदी ही दुर्योधन को नहीं चाहती तो धनुष उठना कठिन है । और ऐसी बहू किस काम की, जो बिना इच्छा के मेरी बहू बनी हो ?

दुर्योधन गर्व के साथ धनुष के पास आया और धनुष उठाने की चेष्टा करने लगा, लेकिन धनुष न उठ सका । दुर्योधन अत्यन्त लज्जित हुआ । वह सोचने लगा—मैं दूसरे राजाओं को ही धिक्कार रहा था, अब मैं स्वयं धिक्कार का पात्र बन गया । कौन जाने, इस धनुष में क्या करा-मात है ?

स्वयंवर-मंडप में रखा हुआ धनुष क्यों नहीं उठता था ? इस पर यह प्रश्न होता है कि दुश्शासन द्वारा द्रौपदी के वस्त्र क्यों नहीं हरण किये जा सके थे ? जिस शक्ति के

भी नहीं उठा। यह सती की शक्ति है। एक मेस्मेरिज्म वाला भी जब किसी बच्चे पर 'पावर' डाल देता है, तब वह बच्चा लकड़ी की तरह कड़ा हो जाता है और वह झुकता नहीं है। जब मेस्मेरिज्म में यह शक्ति है तो सती कहलाने वाली द्रौपदी की दृष्टि में कैसी शक्ति होनी चाहिए? द्रोपदी की सशक्त दृष्टि जब तक धनुष पर या उसके उठाने वाले पर क्रूर थी, तब तक धनुष कैसे उठ सकता था?

एक मदारी ने प्राणीशास्त्र के वेत्ता के सामने रस्सी का सांप बना दिया, जिसे देखकर यह आश्चर्यपूर्वक कहने लगा कि वास्तव में यह सांप ही है। लेकिन जो आदमी नजरबंदी की सीमा से बाहर खड़ा था, वह कह रहा था कि मुझे रस्सी ही दिखाई देती है। फिर भी मदारी ने तो प्राणी-शास्त्रवेत्ता को भी आश्चर्य में डाल दिया। जब मेस्मेरिज्म में इतनी शक्ति है तो सत्य की शक्ति का क्या कहना है?

दुर्योधन धनुष के पास से हट गया। वह कर्ण के पास जाकर कहने लगा—क्या द्रुपद ने सब राजाओं को लज्जित करने के लिए ही यह षड्यंत्र रचा है? इस धनुष ने सभी की इज्जत किरकिरी कर दी। अब तुम राजाओं की लाज रखोगे या नहीं?

कर्ण ने कहा—यद्यपि मुझे विवाह करने की इच्छा नहीं है, फिर भी मैं धनुप चढ़ाता हूं।

कर्ण धनुप के पास जाने को उद्यत हुआ तो वहां उप-स्थित सब लोग कहने लगे—इस सभा में धनुर्विद्या के विशेप

ज्ञाता और बलवान् कर्ण तथा अर्जुन ही हैं। अतएव आशा है, कर्ण धनुष चढ़ाकर लक्ष्य को बेधेगा।

गंभीरता के साथ, पृथ्वी को कम्पित करता हुआ कर्ण धनुष के पास पहुंचा। देखते-देखते उसने धतुष उठाकर चढ़ा दिया। सब लोग कर्ण को धन्य-धन्य कहने लगे। किसी ने कहा—यह राजपुत्र ही राधा-वेध करेगा।

कर्ण ने धनुष चढ़ा दिया, यह देखकर द्रौपदी चिन्तित हुई। उसने सोचा—क्या मेरी मनोकामना पूर्ण न होगी ? क्या मैं इच्छित वर प्राप्त न कर सकूंगी ? इस प्रकार विचार कर उसने कर्ण से कहा—'हे सूतपुत्र, आप धनुष के पास से हट जाओ। मैं क्षत्रियकन्या हूं। अगर आपने लक्ष्य वेध दिया तो भी मैं आपको वरण नहीं करूंगी। मैं सूत-पुत्र को अपना पति नहीं बना सकती।

द्रौपदी की बात सुनकर द्रुपद ने कहा—पुत्री, तुम शांत रहो। तुम्हें ऐसा कहने का अधिकार नहीं है। यह सभा क्षत्रियों की ही नहीं वरन् वीरों की है। इस सभा में आया जो भी कोई लक्ष्य को वेधेगा, वही तुम्हारा पति होगा, चाहे जन्म से वह कोई भी हो।

द्रौपदी—पिताजी, ऐसा करने से मेरा धर्म चला जाएगा। मैं क्षत्रिय को छोड़कर दूसरे को नहीं चाहती।

कर्ण ने विचार किया—उचित तो यह है कि कन्या मुझे चाहे और मैं कन्या को चाहूं। दोनों में से एक की चाह के विना दाम्पत्य संवध स्थापित करना अनुचित है।

जब कन्या ही मुझे नहीं चाहती तो मैं भी उसे बलात्
हना नहीं चाहता । यद्यपि मैं राधा-बेध कर सकता हूं
इस स्थिति में ऐसा करना मेरा धर्म नहीं है ।

इस प्रकार विचार कर कर्ण ने धनुष रख दिया
वह अपने स्थान पर जा बैठा । लोग उससे कहने लगे
आप भी खूब हैं, जो लड़की की बात मानकर लौट आये

कर्ण ने कहा—मेरी वीरता धर्म की रक्षा करने
लिए है । मैं अधर्म करके अपनी वीरता को कलंकित
करना चाहता । जब कन्या मुझे नहीं चाहती तो उसे
का मुझे क्या अधिकार है ? बिना हृदय का शरीर ले
मैं क्या करूंगा ? ऐसा करना तो कुत्तों का काम है। वी
पुरुष ऐसी इच्छा भी नहीं करते । कन्या पर जबर्दस्ती कर
न वीरता है और न धर्म है । वीर होने के कारण मैं
की उपेक्षा नहीं कर सकता । आखिर तो धर्म ही
का दाता है ।

हारे हुए राजा कर्ण को भड़काने लगे । कहने लगे
अगर ऐसा होना था तो कर्ण को आमन्त्रण ही क्यों द
गया ? निमन्त्रण देकर किसी वीर का अपमान करना अत
न्त अनुचित है । वीर कर्ण, आप लक्ष्य को बेधिए,
हम लोग संभाल लेंगे ।

बुद्धिमान् और विवेकशील राजा, कर्ण के विचारों
प्रशंसा करने लगे । उन्होंने कहा—कर्ण ने उचित किया है
यही वीरों के योग्य कर्त्तव्य है ।

कोलाहल करने वालों से कर्ण ने कहा—मैं अ

भड़काने से नहीं भड़क सकता। तुम कुछ और प्रेरणा करते हो तथा धर्म कुछ और ही प्रेरणा करता है। मैं धर्म की प्रेरणा को समझता हूं।

धर्म का तत्त्व बहुत गंभीर है। साथ ही सर्वसाधारण जनता को धर्म का तत्त्व समझना आवश्यक है। ऐसी दशा में यही उपाय किया जाता है कि गम्भीर धर्म को सरलता से समझाने के लिए धर्मकथा का आश्रय लिया जाय। धर्म-कथा सुनने का यही प्रयोजन है। धर्मकथा में से धर्म का सार ग्रहण करना चाहिए।

मैंने कहा था कि द्रौपदी ने अपने दिल में कहा था—'हे धनुष, तू उसी से उठना, जिसे मैं चाहती हूं।' अब प्रश्न उपस्थित होता है कि धनुष अपनी गुरुता के कारण नहीं उठा था अथवा द्रौपदी की भावना के कारण? इसी विषय पर केनोपनिषद् में आई एक कथा कहता हूं। वह इस प्रकार है—

ब्रह्मा ने असुरों को जीता, परन्तु देव लोग गर्व करने लगे कि असुरों को हमने जीता है। ब्रह्मा विचारने लगे कि देवों में यह विचार नहीं रहने देना है। ब्रह्मा यक्ष का रूप बनाकर देवों के पास गये। ब्रह्मा रूपी यक्ष को देखकर देव सोचने लगे—यह कौन है? यह जानने के लिए देवों ने यक्ष के सामने सब से आगे अग्नि (देव) को भेजा। अग्नि जब यक्ष के पास पहुँचे तो यक्ष ने पूछा—'तू कौन है?' उसने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूं।' यक्ष ने पूछा—'तू क्या कर सकता है?' उसने उत्तर दिया—'मैं सारे संसार को भस्म कर सकता हूं।' यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रखकर

कहा—'इसे जला ।' अग्नि ने तिनके को जलाने की बहुत चेष्टा की पर तिनका न जला । अग्नि लज्जित होकर लौट गया ।

इसके बाद देवों ने यक्ष का पता लगाने के लिए पवन को भेजा । यक्ष ने पवन से भी उसी प्रकार के प्रश्न किये । पवन ने कहा—मैं संसार को उड़ा सकता हूं । यक्ष ने वही तिनका उड़ाने के लिए कहा, मगर तिनका न उड़ा । इसी प्रकार जल आया और वह भी तिनके को न बहा सका । तब ब्रह्मा वहीं अन्तर्धान हो गये ।

यहां विचारणीय बात यह है कि उस तृण में ऐसी शक्ति कहां से आ गई कि अग्नि उसे जला न सका, पवन उड़ा न सका और जल वहा न सका । वह शक्ति तृण की खुद की थी या ब्रह्मा की थी ? उपनिषदों ने वह शक्ति ब्रह्मा की बतलाई है ।

ऐसी ही बात धनुष के विषय में क्यों नहीं कही जा सकती ? वह धनुष द्रौपदी की इच्छा शक्ति के बिना नहीं उठ सकता था ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर यही बात होती तो कर्ण ने धनुष को कैसे उठा लिया ? उस समय द्रौपदी की शक्ति कहां चली गई थी ?

यह प्रश्न सामने रख कर लोग कह देते हैं—धर्म है कहां ? धर्म के प्रताप से अग्नि भी शीतल और विष भी अमृत हो जाता है तो हम विष देकर देखें कि वह अमृत

होता है या नहीं ? इस प्रकार लोग धर्म की परीक्षा करने की इच्छा तो करते हैं पर यह नहीं देखते कि एक कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—मेस्मेरिज्म एक बालक पर तो अपना प्रभाव दिखलाता है पर आत्मबली पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी दशा में मेस्मेरिज्म को झूठा कहा जाय या सच्चा ? अगर झूठा है तो दृढ़ इच्छाशक्ति वाले आत्मबली पर उसका असर क्यों नहीं पड़ता? अब सोचिए, किस सिद्धान्त को लेकर आप उसे झूठा या सच्चा साबित करेंगे ?

यही बात स्वयंवर-मंडप में रखे हुए धनुष के विषय में समझनी चाहिए। द्रौपदी के मनोबल में कोई कमी नहीं थी और न इस कथन में ही आश्चर्य की बात है कि द्रौपदी के बलवान् विचारों के कारण धनुष नहीं उठा। रह गई कर्ण के धनुष उठा लेने की बात। सो इसका समाधान ऊपर के दृष्टांत से हो जाता है। द्रौपदी की इच्छाशक्ति अन्य राजाओं को प्रभावित करने में समर्थ हो सकी किन्तु कर्ण पर उसका प्रभाव न पड़ा। कर्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह भी कुन्ती का पुत्र था। वह धर्मनिष्ठ, पराक्रमी, रूपवान् और बलवान् था। उसका मनोबल द्रौपदी के मनोबल से पराजित नहीं हो सका। जिसका मनोबल प्रबल होता है, उसी की विजय होती है। यह भी सम्भव है कि कर्ण जब उठा, तब द्रौपदी भयभीत हो गई थी और इसी कारण उसके मनोबल में कमी हो गई हो। कुछ भी हो, परिणाम यह है कि कर्ण का मनोबल द्रौपदी के मनोबल से उस समय प्रबल था। इस कारण कर्ण का मनोबल विजयी हुआ। तब द्रौपदी को दूसरा उपाय खोजना पड़ा।

कर्ण बलवान् तो था ही, साथ ही धर्मात्मा भी था। लोग समझते हैं कि संसार-व्यवहार के साथ धर्म नहीं निभाया जा सकता। इस गलत समझ के कारण ही वे व्यवहार में धर्म को भूल जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि संसार-व्यवहार और धर्म में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इस कारण लोग धर्म से पतित हो जाते हैं। वास्तव में धर्म जीवनव्यापी तत्त्व है। वह सिर्फ धर्म-स्थानों की वस्तु नहीं है वरन् आत्मा के साथ सदा-सर्वथा रहने वाला है। यह विचार कर प्रत्येक क्षण धर्म की साधना करना उचित है।

कर्ण चाहता तो द्रौपदी से कह सकता था—'तुझे बोलने का कोई अधिकार नहीं है। तू लक्ष्यबेध के अधीन है। जो लक्ष्य बेधेगा, उसे तुझे वरण करना होगा।'

कर्ण ऐसा कहता तो क्या झूठ कहता? उसके कथन का विरोध भी नहीं किया जा सकता था। बल्कि द्रुपद ने तो द्रौपदी से यह बात कह भी दी थी। मतलब यह है कि कर्ण अगर लक्ष्य बेध देता तो उसे द्रौपदी को पाने का न्याय-संगत अधिकार था। फिर भी उसने द्रौपदी के हृदय का विचार करके धनुष को रख दिया। आज ऐसा कौन है जो द्रौपदी जैसी अनुपम सुन्दरी को और साथ ही असाधारण कीर्त्ति को पाने का अधिकारी होकर भी त्याग दे? कर्ण ने कह दिया कि मैं अपना बल कन्या का हक लूटने में नहीं लगाना चाहता। लुटेरेपन में काम आने वाला बल वास्तव में बल नहीं है। बल वह है, जो धर्म की रक्षा में लगा हुआ हो।

जिस प्रकार दरिद्रता की स्थिति में दान करना कठिन

है और जो दान करता है, वह शूर है, उसी प्रकार वीर होते हुए जो धर्म का विचार करता है, वही वास्तव में शूर है।

आज लोकनिन्दा के कल्पित भय से भी बहुत–सी कुचालें चल पड़ी हैं । लोग यह विचार कर कुकृत्य करने लगे हैं कि ऐसा न करेंगे तो लोकनिन्दा होगी । मगर वीर पुरुष एसी बातों की परवाह नहीं करते । कर्ण ने लोगों की बातों की परवाह नहीं की और धर्म का विचार करके संतोष के साथ बैठ गया । वास्तव में हमारे सामने कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का ही विकल्प होना चाहिए । लोकनिन्दा या लोक प्रशंसा के ध्येय से किसी अच्छे कार्य से विमुख नहीं होना चाहिए और बुरे कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ।

कर्ण के बाद बड़े अभिमान के साथ भगदत्त राजा उठा । उसने सोचा—धनुष उठने का मङ्गलाचरण हो चुका है तो अब मैं क्यों पीछे रहूं ? उसने बहुत जोर मारा मगर धनुष नहीं उठा । धनुष न उठने के कारण अभिमानी भगदत्त के चित्त की क्या दशा हुई होगी, यह कौन जाने ? लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अभिमान से बढ़कर कोई बुराई नहीं है । लोग इसके वश होकर क्षुद्र से क्षुद्र और अधम से अधम काम करने लगते हैं । भगदत्त नीची गर्दन करके बैठ गया । अन्य राजा हंसने लगे । भूरिश्रवा कहने लगा—तुम्हारे उठते ही छींक हुई थी । इसी कारण धनुष नहीं उठा । अब देखो, मैं उठाता हूं । वह मन में कहने लगा—'हे कुलदेव ! हे इष्टदेव ! तुम सब मेरे अनुकूल होओ । मैं केवल क्षत्रियों की लाज रखने के लिये उठ रहा हूं । मुझे स्त्री की आवश्यकता नहीं है।

भूरिश्रवा गरजता हुआ गंभीरतापूर्वक धनुष के पास गया। द्रौपदी सोचने लगी—'यह मूर्ख है, इसी कारण धनुष उठाने का साहस करने को तैयार हुआ है। यह क्या धनुष उठाएगा!'

सखी कहने लगी—'भूरिश्रवा कुलवान् और बलवान् है। यह धनुष उठा ले और लक्ष्य बेध दे तो अच्छा है।'

मगर भूरिश्रवा की भी वही हालत हुई, जो भगदत्त की हुई थी। वह भी द्रौपदी के बदले लज्जा को वरण करता हुआ अपने स्थान पर बैठ गया।

अब जयद्रथ की बारी आई। वह सोचने लगा—ज्योनिषी ने हमें अच्छा मुहूर्त्त दिया है। इस मुहूर्त्त में अवश्य ही लक्ष्य बेध होना चाहिए। यह सोचकर वह धनुष के पास पहुँचा। मगर धनुष ने उठने का नाम ही न लिया।

इसके बाद शल्य और फिर दुःशल्य उठे। उन्हें भी हार मानकर बैठ जाना पड़ा! तब जरासिन्धु, जो अपने आपको राजाओं का भी राजा मानता था, बड़े अभिमान के साथ खड़ा हुआ। उसे उठते देख लोग सोचने लगे कि अब लक्ष्य बिना बिधा नहीं रहेगा। लेकिन द्रौपदी ने धीरे से अपनी सखी से कहा—'जरा इस बूढ़े को तो देखो! जवानों का स्वांग बनाये जा रहा है! बलवान् है तो तप करने जाना चाहिए, उसके बदले ब्याह करने चला है! सखी ने कहा—अजी, यह सम्राट् है। सम्राट् से लक्ष्य बिध गया तो निहाल हो जाओगी! द्रौपदी बोली—साम्राज्य से किसी के हृदय की

भूख नहीं मिटती । धनुष उठ ही नहीं सकता । मैं कह जो रही हूं ।

इतने में जरासिन्धु धनुष के पास जा पहुंचा । उसने धनुष उठाने के लिए अपना सारा बल लगा दिया, लेकिन धनुष तो जैसे जमीन पर चिपक गया था । उसने उठने का नाम ही न लिया । जरासिन्धु का मुंह फीका पड़ गया । लज्जित होकर सोचने लगा—इस धनुष ने मेरा यश कलंकित कर दिया । आज तक मैंने हार नहीं जानी थी कि किसे कहते हैं ? लेकिन आज इससे भेंट हुई । इस अपमान से तो मौत ही भली थी !

जरासिन्धु को तसल्ली देते हुए शिशुपाल कहने लगा—आप चिन्ता न करें । आप वृद्ध हैं, इसी से धनुष नहीं उठा सके । जब मैं लक्ष्य वेधूंगा तो मेरी विजय आपकी ही विजय होगी ।

शिशुपाल जोश के साथ धनुष की ओर जाने लगा । इधर द्रौपदी मुस्करा कर अपनी सखी से कहने लगी—इस मूर्ख को अपने मान-अपमान का भी खयाल नहीं है !

सखी—ऐसा मत कहो सखी, शिशुपाल बड़ा वीर है । इसके पीछे ९९ राजाओं का बल है । यह जरासिन्धु से सम्मानित है । जरासिन्धु इसी का बल पाकर बलवान् है । अगर यह लक्ष्य वेध दे और आप इसके गले में वरमाला डाल दें तो अच्छा ही है ।

द्रौपदी—ऐसे अभिमानी को मैं अपना पति नहीं बनाना चाहती ।

सखी—आपको तो बस, सभी राजा नापसंद हैं। जन्म पर जोगिनी बन कर रहना है ? कुंवारी रह गई हाय-हाय करोगी !

द्रौपदी—घबरा मत, देखे जा।

द्रौपदी धनुष पर क्रूर और उग्र दृष्टि करके बैठ गई। शिशुपाल धनुष से भिड़ा। पर धनुष इतना भारी हो गया मानों सारे संसार का भारीपन सिमट कर उसी में आ गया हो ! शिशुपाल धनुष के आसपास देखने लगा कि कहीं अटका हुआ तो नहीं है। लेकिन धनुष कहीं अटका था और कर्ण एक बार उसे उठा चुका था। गहरी निराशा के साथ उसे अपना स्थान ग्रहण करना पड़ा।

शिशुपाल के बैठते ही सारे सभामंडप में सन्नाटा छा गया। जब जरासिन्धु और शिशुपाल जैसे वीर, वीर-शिरोमणि गिने जाने वाले राजाओं की आबरू भी किरकिरी हो गई तो अब किसमें साहस था कि वह धनुष के पास जाकर उसे उठाने की चेष्टा करे ? सब राजा चुप थे। वातावरण निराशा से परिपूर्ण हो गया।

सभा की यह स्थिति देखकर द्रुपद को भी चिन्ता हुई। उसने धृष्टद्युम्न से कहा—'पुत्र, क्या द्रौपदी अविवाहित ही रहेगी ? क्या इस सभा में कोई ऐसा वीर नहीं है, जो लक्ष्य वेध सके ? तुम खड़े होकर यह घोषणा कर दो कि या तो आप लोग घोषणा कर दें कि अब कोई वीर नहीं

है और यदि कोई अपने को वीर समझता है तो वह आगे आवे।

धृष्टद्युम्न ने खड़े होकर कहा—क्या कोई ऐसा वीर इस सभा में नहीं है, जो हमारे प्रण को पूर्ण कर सके? अगर कोई है तो वह आकर अपना बल क्यों नहीं आजमाता? नहीं तो अब इस प्रदर्शिनी की क्या आवश्यकता है? पिताजी को पता होता कि इस भारतवर्ष में अब कोई धनुर्धारी या राधावेधी नहीं है तो वे ऐसा प्रण ही क्यों करते? भारत के महान् क्षत्रियों की यह स्थिति देखकर पूर्वज क्या सोचते होंगे?

धृष्टद्युम्न की वात वक्तृता सुनकर राजा लोग और भी अधिक लज्जित हुए मगर कृष्णजी उस समय मुस्करा रहे थे। उनके अनुयायी दल के राजा और राजकुमार शांत थे। वे सोचते थे—भलाई-बुराई का जिम्मा वड़े पर है। कृष्ण महाराज हमारे मुखिया है। वह जो आज्ञा दें, वही हमारा कर्त्तव्य है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर देखते हुए कहा—अरे अर्जुन, तुम अपनी मौजूदगी में भी क्या पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन कहलाओगे? क्या तुमने धृष्टद्युम्न की चुनौति नहीं सुनी? फिर चुप क्यों वैठे हो? उठो, राधावेध करो।

कृष्ण का आदेश पाकर अर्जुन खड़ा हुआ। कृष्ण को प्रणाम करके वह कहने लगा—मैं गर्व नहीं करता। आपकी आज्ञा से खड़ा हुआ हूं। सबका अपमान मेरा

अपमान और सबका आदर मेरा आदर है। इसलिए मैं राधा-बेध करने को तैयार हूं।

अर्जुन को खड़ा हुआ देखकर द्रुपद प्रसन्न हुआ। वह अपने मन में कहने लगा—इस वीर ने द्रोण की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए मुझे बांधा ही था, अब मैं चाहता हूं कि यह प्रेम पाश में भी मुझे बांध ले।

उधर द्रौपदी अर्जुन को देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुई वह कहने लगी—मैं इसी नर-केशरी को चाहती हूं। मेरी आत्मा इसी वीर की ओर आकर्षित है।

अर्जुन ने खड़े होकर कहा—वीरगण ! आप सब एकाग्र चित्त से मेरा कार्य देखें। मैं यह नहीं कहता कि केवल मैं ही वीर हूं, किन्तु मैं भी आप सब में एक हूं। मैं जो कुछ करूंगा, उसका यश आप सभी को है। जाति का कार्य कोई एक करता है फिर भी वह जाति का ही गिना जाता है। धृष्टद्युम्न की बात आप सब के साथ मुझे भी खटकी है। इसी कारण मैं खड़ा हूं।

अर्जुन को खड़ा देख कई राजा ईर्ष्या से जलने लगे। उन्हें भय होने लगा कि कहीं अर्जुन विजयी हो गया तो हमें नीचा देखना पड़ेगा। अगर धनुष अन्त तक किसी से न उठा, तब तो सभी एक रहेंगे। किसी ने उठा लिया तो प्रतिष्ठा,अप्रतिष्ठा का प्रश्न पैदा हो जायगा। कई राजा कहने लगे—जान पड़ता है, अर्जुन बड़ा अभिमानी है। जरासिन्धु, शिशुपाल, भगदत्त आदि के सामने यह किस

गिनती में है ? जब इनकी ही न चली तो यह क्यों खड़ा हुआ है ?

उसी समय भीम ने उठकर कहा—सब लोग शांति से देखें, अर्जुन राधा-वेध करता है । किसी ने अशांति की तो मेरी गदा भी अशांति कर देगी । वह चुप नहीं रहेगी । हमने अभी तक अशांति नहीं की है ।

राजाओं में जो भले थे, वे अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । कहने लगे—अर्जुन में कितनी नम्रता और कितनी सभ्यता है ! और सब तो द्रौपदी को पाने की इच्छा से उठे थे, पर इसे यह भी कामना नहीं है ।

अर्जुन धनुष के पास पहुंचा । उसने धनुष उठा लिया और गंभीरता तथा धैर्य के साथ उसे चढ़ा लिया ।

राजाओं के आश्चर्य का पार नहीं रहा । वे सोचने लगे—इस धनुष में क्या कोई जादू था कि औरों से नहीं उठा और अर्जुन से उठ गया ! किसी ने कहा—मालूम होता है, द्रुपद ने धनुष को मंत्रित करके रखा है । दूसरे ने उत्तर देते हुए कहा—ऐसा होता तो कर्ण उसे कैसे उठा सकता था ? वास्तव में अर्जुन वीर है और अपनी वीरता के प्रभाव से ही उसने धनुष उठाया है । अर्जुन की सफलता देखकर जिन्हें बुरा लग रहा था, उनमें दुर्योधन आदि कौरव भी सम्मिलित थे ।

धनुष उठाकर अर्जुन ने अपने मन को साधा । असली ताकत तो मन में ही रहती है । शारीरिक शक्ति का स्थान

गौण है। मन के बिगड़ जाने पर शारीरिक शक्ति किसी काम नहीं आती।

मन को साधकर अर्जुन ने तेल के कड़ाह में देखते हुए बाण छोड़ दिया। चक्रों को भेद कर बाण राधा की आंख की पुतली में जा लगा। सभा में जय-जयकार का तुमुल नाद गूंज उठा और फूल बरसने लगे। कृष्ण, अर्जुन की प्रशंसा करने लगे। राजा द्रुपद भी अत्यन्त प्रसन्न हुआ। और द्रौपदी? शायद वही सब से अधिक प्रसन्न थी।

१७ : पञ्च-भर्तारी

चित्त को भलीभांति एकाग्र कर लेने के कारण ही अर्जुन को वह असाधारण और अपूर्व सफलता मिल सकी, जिसके लिए उस समय के बड़े-बड़े प्रख्यात राजा महाराजा और सम्राट भी तरस-तरस कर निराश हो गए थे। अन्य राजाओं का चित्त द्रौपदी में था तो लक्ष्य बिंधता कैसे? अर्जुन का मन द्रौपदी में नहीं, लक्ष्य में था। इसीलिए वह लक्ष्य बेध सका और उसके बल स्वरूप द्रौपदी भी उसे मिल गई। वास्तव में चित्त जब कामना से युक्त होता है, तब वह ठीक लक्ष्य को नहीं बेध सकता। यही कारण है कि शास्त्रकार कामना का परित्याग करने की शिक्षा देते हैं। इस व्यावहारिक उदाहरण से यह बात भलीभांति समझ में आ सकती है।

लक्ष्य बेध देने के बाद भी अर्जुन को यह उत्सुकता नहीं थी कि द्रौपदी मेरे गले में वरमाला क्यों नहीं डालती है? वह अपने कर्त्तव्य को पूरा कर डालने में ही संतुष्ट है। उसे द्रौपदी के कर्त्तव्य की चिन्ता करके व्यग्र होने की क्या आवश्यकता थी?

अर्जुन ऐसे सहज भाव से अपने स्थान पर आ बैठा, जैसे कोई विशेष बात हुई ही नहीं है। बीच में युधिष्ठिर थे और बगल में दोनों ओर शेष पाण्डव थे। पांचों भाई समान दिखाई देते थे। द्रौपदी वरमाला डालने आई तो पांचों पांडवों को समान देखकर अचकचा गई कि किसके गले में माला डालूं ? इतने में द्रुपद और धृष्टद्युम्न कहने लगे—लक्ष्य बेधा जा चुका है। अब विलम्ब किसलिए करती हो ? पिता तथा भाई की बात सुनकर द्रौपदी अर्जुन के गले में माला डालने लगी। परन्तु माला पांचों भाइयों के गले में पड़ गई। यह देखकर द्रौपदी हर्षित हुई और सोचने लगी—मैं जो चाहती थी, वही हो गया।

नीतिज्ञ लोग यह देख कर कहने लगे—एक कन्या के पांच पति कैसे हो सकते हैं ?

विरोधी राजा बोले—यह कन्या कोई जादूगरनी मालूम पड़ती है। इसने एक ही माला पांच पुरुषों के गले में डाल दी ! यह ठीक रहा, अच्छा फजीता होगा !

द्रुपद का खून सूख गया। वह चकित था। उसकी समझ में नहीं आता था कि एक माला पांच के गले में कैसे जा पड़ी ? द्रुपद सोचने लगा—हाय, यह क्या गजब हुआ ? अब क्या होगा ?

धृष्टद्युम्न सोचने लगा—क्या मेरी बहिन के पांच पति होंगे ? मुझे पांच बहनोई बनाने पड़ेंगे ?

इतने में आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी और ध्वनि सुनाई दी—'पांच पति अच्छे वरे !'

यह ध्वनि सुनकर सारी सभा दंग रह गई । इसी समय एक चारण मुनि आते हुए दिखाई दिये । आकाश से उतरने वाला प्रकाश देखकर लोग सोचने लगे—आचार्यों की भरमार है ! आज न जाने क्या-क्या देखने को मिलेगा !

मुनि समीप आ पहुंचे । राजा कहने लगे—मुनि का अचानक आगमन निष्कारण नहीं है । यही मुनि हमारे आश्चर्य का निवारण करेंगे !

उपस्थित राजाओं ने मुनि का यथायोग्य सत्कार-सन्मान किया । मुनि ने धर्म का उपदेश दिया । धर्मोपदेश समाप्त हो जाने के पश्चात् कृष्ण और द्रुपद ने प्रश्न किया—महाराज, आप धर्म की बात कहते हैं, पर एक स्त्री के पांच पति कैसे निभेंगे ? इस विस्मयकारक घटना का क्या कारण है ? कृपा कर हमारा भ्रम मिटाइये ।

मुनि ने शांत और गंभीर वाणी में कहा—नृपतिगण, कर्म की गति बड़ी ही विचित्र है । कर्म के प्रभाव से अन-होनी घटना भी घट जाती है और होनी-अनहोनी बन जाती है । अतएव पांच पति होने की बात में क्या अचरज है ? कर्म का ही यह फल है । सम्पूर्ण विचार जाने बिना आदमी गड़बड़ में पड़ जाता है ।

कर्म की गति के विषय में भर्तृहरि कहते हैं:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे

कर्म ने ब्रह्मा को कुम्हार बनाया, जिससे उसे हंडि की तरह सृष्टि घड़नी पड़ी। स्वर्ग घड़ने में तो उसे प्रसन्नता हुई होगी पर नरक घड़ने के समय कितनी ग्लानि होगी ? कर्म की मर्यादा बताने के लिए ही विष्णु को द अवतार लेने पड़े। जिन्हें लोग शंकर मानते हैं, वे रुण्डम. पहन कर और नरकपाल हाथ में लेकर भीख मांगते हैं सूर्य को रात-दिन भ्रमण करना पड़ता है। यह सब क की विचित्रता है।

प्रश्न होता है—आज कोई स्त्री पांच पति करके : काम को कर्म की गति के मत्थे मढ़ दे तो क्या ठीक होगा? इसका उत्तर यह है कि संसार की रीति ऐसे चरित्र से नहीं चलती, किन्तु धर्म की बतलाई हुई मर्यादा से चलती है। चोरी में जाने वाला माल कर्म के उदय से ही जाता है, परन्तु सरकार ऐसा कह दे तो सरकार की मर्यादा भंग होती है। सरकार की मर्यादा अलग है और कर्म की मर्यादा अलग है। चोरी होने में हम तो कर्म को ही प्रधान कारण कहेंगे लेकिन सरकार ऐसा नहीं कहेगी। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में धर्म की जो मर्यादा बतलाई हैं. उसका उल्लंघन करके चरित का सहारा लेकर मर्यादा के विरुद्ध कार्य करना ठीक नहीं है। ऐसा करने से धर्मशास्त्र व्यर्थ हो जाएंगे। कर्म का हिसाब कोई समर्थ ज्ञानी ही बता सकते हैं। कर्म का आश्रय लेकर सब ऐसा करने लगें तो मर्यादा भंग हो जायगी। मतलब यह है कि मर्यादित को मर्यादा का पालन करना ही चाहिए।

चारण मुनि कहने लगे—द्रौपदी ने पूर्व भव में तप

करके यह फल चाहा था कि मेरे पांच पति हों। पूर्व तप का फल मिलना और पांच पति होना द्रौपदी के लिए कर्म रूप दोष है। पांच पति वाली बात को धर्म में कोई नहीं गिनता।

विचारशील आस्तिक के लिए यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु कर्म का उदाहरण लेकर अपना कर्म बिगाड़ना उचित नहीं है। ऐसा करने से बिगाड़ होगा। पूर बहती जमुना नदी को कृष्ण ही पार कर सकते हैं। दूसरा उनकी नकल करने जाएगा तो डूब मरेगा।

कुछ यूरोपीय लोग भारत की सभ्यता का मर्म न समझते हुए इस प्रकार की घटनाओं को आगे करके कहते हैं—भारतीय सभ्यता भी कोई सभ्यता है, जहां एक स्त्री के पांच पति माने जाते हैं और फिर भी वह सती कहलाती है! यह तो निरा जङ्गलीपन है। बल्कि जङ्गली लोगों में भी ऐसा नहीं होता। हां, कई जङ्गली जाति में यह प्रथा अवश्य है कि दो-चार भाई हों तो उनमें कोई एक पत्नी रखी जाती है, अन्यथा नहीं। यही जङ्गलीपन उस समय भारत में भी था।

केवल यूरोपीय नहीं, वरन् भारत में भी द्रौपदी के पांच पति होने की बात कई लोग स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि द्रौपदी अकेले अर्जुन की ही पत्नी थी। पांचों भाइयों की पत्नी होने की बात पीछे के भ्रष्ट लोगों ने प्रसिद्ध कर दी है। लेकिन प्राचीन साहित्य में और शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि द्रौपदी के पांच पति थे, फिर भी वह सती थी।

चारण मुनि ने कहा – द्रौपदी ने सुकुमारिका के भ· में ऐसा कठिन तप किया था, जैसा प्रत्येक स्त्री नहीं क सकती । तप करके उसने अपने तप के फल की कामना की उसके शरीर में बीमारी थी, इस कारण उसे कोई पुरुष नह चाहता था । तप करते हुए उसने एक वेश्या को देखा वेश्या अपने पांच जार–पतियों द्वारा आदर पा रही थी यह देख कर सुकुमारिका के मन में आया कि मैं भी .। पतियों द्वारा आदर पाऊं ।

शास्त्र में कामनापूर्वक किये गये तप की प्रशंसा नह की गई है, पर ऐसा भी नहीं होता कि जो गिर गया, वह फिर उठ ही न सके । गिरा हुआ भी उठता है । इसी प्रकार पूर्व कर्म के कारण द्रौपदी को पांच पति तो मिले, रन्तु पांच पति पाकर भी वह अपनी करनी के प्रताप से सती कहलाई ।

लोकापवाद मिटाना महापुरुषों का काम है । राम जानते थे कि सीता निर्दोष है । फिर भी लोकापवाद मिटाने के लिए सीता की अग्नि–परीक्षा कराई गई । इसी प्रकार पांचाली के विषय में भी चारण मुनि ने साक्षी दी ।

१८ : द्रौपदी का विवाह और विदाई

शुभ मुहूर्त्त में द्रौपदी का विवाह हुआ। द्रुपद और कृष्ण ने पाण्डवों को खूब सम्पत्ति दहेज में दी। द्रौपदी अन्य रानियों के साथ अपनी सास कुन्ती के पास गई।

द्रौपदी के परिवार वालों को और खास तौर पर उस-की माता को विदाई के समय कितना दुःख हुआ होगा, यह बात भुक्तभोगी गृहस्थ ही समझ सकते हैं। लड़की की विदाई का करुण दृश्य देखा नहीं जाता। कन्या का वियोग हृदय को हिला देता है। साधारण घरों में भी कन्या की विदाई के समय कोलाहल मच जाता है तो राजकुमारी द्रौपदी की विदाई का किन शब्दों में वर्णन किया जा सकता है!

द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को दिलासा देते हुए कहा—बेटी, जैसे मैं अपने पिता का घर छोड़ कर यहां आई हूं, उसी प्रकार तू भी यह घर छोड़कर ससुराल जा रही है। यह तो लोक की परम्परा ही है। इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। तेरी जैसी पुत्री पाकर मैं निहाल हुई हूं, अब अपने कुल की लाज रखना तेरे हाथ की बात है। तूने मेरे

स्तनों का दूध पिया है, इसलिए ऐसा कोई काम मत करना जिससे मेरा मुंह काला हो । अपने जीवन में कोई भी अप–वाद न लगने देना ।

अच्छी माता ऐसी ही शिक्षा देगी । वह वतलाएगी कि तुझे पति, सास, ससुर और नौकर–चाकरों के साथ कैसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए । कोई समझदार माता अपनी लड़की को यह नहीं समझाएगी कि अव तुम रानी हो, सो मनमानी करना ।

खेद है कि आजकल की अशिक्षित माताएं अपनी पुत्रियों को उलटा पाठ पढ़ाती हुई कहती हैं—देख वेटी, हमने तुझे वेचा नहीं । तेरे बदले में कुछ लिया भी नहीं है । इसलिए सास आदि से बने तो ठीक, नहीं तो जामाता को अलग दुकान करा देंगे ।' ऐसी शिक्षा गीतों द्वारा भी दी जाती है । प्रारम्भ में ही इस प्रकार के बुरे संस्कार डालने के कारण लड़की का भविष्य बुरी तरह बिगड़ जाता है ।

द्रौपदी की माता ने उसे सीख दी थी कि—बेटी, अपने घर की आग बाहर मत निकालना । इसी तरह बाहर की आग घर में मत लाना । जो देने लायक हो उसे देना, जो न देने योग्य हो उसे न देना । इसी प्रकार दोनों को देना तथा घर की अग्नि आदि देवों की पूजा करना ।

ये वातें आलंकारिक ढंग से कही गई हैं । घर की आग बाहर मत निकालना और बाहर की आग घर में मत लाना, इस कथन का अर्थ यह है कि कदाचित् घर में

क्लेश हो जाय तो दूसरों के आगे इसका रोना मत रोना। उसे बाहर प्रकट नहीं करना बल्कि घर में ही बुझा देना। इसी प्रकार बाहर की लड़ाई घर में न आने देना। दूसरों की देखा-देखी अपने घर में कोई बुराई न आने देना।

आज भारतीय बाहर की—यूरोप की आग अपने घरों में ले आये हैं। यूरोप की अनेक बुराइयां आज भारत में घर कर रही हैं। इसी कारण भारतीय जीवन मलिन और दुःखमय बन गया है। भारत की उज्ज्वल संस्कृति नष्ट हो रही है और उसका स्थान एक ऐसी संस्कृति ले रही है, जिसके गर्भ में घोर अशांति, घोर असंतोष, घोर नास्तिकता और विनाश भरा हुआ है। द्रौपदी को मिली हुई शिक्षा भारतीयों के लिए इस समय बहुत उपयोगी साबित हो सकती है।

'देने योग्य को देना' का अर्थ यह है कि व्यवहार में किसी को उधार देना ही पड़ता है। ऐसा उधार देने का समय आने पर या किसी और प्रकार से देने का समय आने पर जो देने योग्य हो उसे अवश्य देना। किन्तु उसे देना जो उधार लेकर भाग न जाय और न लड़ने पर ही आमदा हो जाय।

'न देने योग्य को न देना' इसका आशय यह है कि जो लेकर देना ही न सीखा हो उसे मत देना। यह हमारी वस्तु वापस लौटा देगा या नहीं, यह बात सोच-विचार कर ही किसी को देना। और जो दी हुई वस्तु का दुरुप-योग करता हो उसे भी मत देना। जैसे—बालक ने चाकू

मांगा और उसे दे दिया तो वह अपना हाथ काट लेगा। रोष में आकर किसी ने अफीम मांगी और उसे दे दी तो वह आत्महत्या कर लेगा। इसलिए देने से पहले सुपात्र-कुपात्र का ध्यान रखना। न देने से तो ऐसे को थोड़ा ही दुःख होगा मगर दे देने से घोर अनर्थ हो सकता है और फजीता अलग होता है।

कुछ लोगों की ऐसी आदत होती है कि वस्तु मौजूद रहते भी वे झूठ बोलते हैं—कह देते हैं, मेरे पास नहीं है। इस प्रकार झूठ बोलकर कुपात्र बनने की क्या आवश्यकता है? देने का मन हो तो सच-सच क्यों नहीं कह देते कि हम देना नहीं चाहते! अपनी वस्तु के लिए जो कुपात्र है, उसे कुपात्र न कहकर स्वयं झूठ बोलने के कारण कुपात्र बनना अच्छी बात नहीं है। हां, योग्य को देना और अयोग्य को देना मूर्खता है।

इससे आगे कहा है—योग्य और अयोग्य दोनों को देना। इसका अर्थ यह है कि कोई भूखा आदमी रोटी पाने की आशा से तुम्हारे द्वार पर आवे तो उस समय योग्य-अयोग्य का विचार न करना। उसे रोटी दे देना ही धर्म है। करुणा के समय कुपात्र-सुपात्र का विचार मत करना। करुणा करके सभी को देना। नीति में कहा है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

जिसके घर से अतिथि, अभ्यागत निराश होकर लौट जाता है, वह पाप का भागी होता है।

ग्रामों में कई-एक भद्र लोग ऐसे देखे गये हैं कि उनके घर से रोटी न ली जाय तो वे रोने लगते हैं। उन्हें यह विचार तो होता नहीं कि साधु सदोष आहार नहीं लेते—निर्दोष ही लेते हैं। वे केवल यही जानते हैं कि साधु हमारे घर आये और खाली हाथ लौट गये। यही विचार कर वे रोने लगते हैं। जो अतिथि कष्ट का मारा आपके द्वार पर आया है, वह दया पाने की आशा से आया है। उसे निराश कर देना उचित नहीं है। अगर आप निराश करते हैं तो नीतिकार के कथनानुसार उसका पाप आपने ले लिया है और आपका पुण्य उसने ले लिया है।

पुण्य-पाप का लेन-देन कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है—वह आपको पुण्यवान् समझकर आपके पास आया था। आपने उसे गालियां सुनाईं, पीट दिया या कटुक वचन सुना दिये। उसने दीनता एवं नम्रता के साथ आप-से याचना की और आपने उसे झिड़क दिया। तो वह अतिथि अपनी नम्रता से पुण्य लेकर जाता है और आपको पापी बना जाता है।

द्रौपदी की माता ने उसे इस प्रकार की शिक्षा दी। वहां जो दूसरी स्त्रियां मौजूद थीं, वे समझती थीं कि महा-रानी हम सभी को शिक्षा दे रही है। द्रौपदी की माता तथा अन्य सभी कुटुम्बी जनों की आंखें आंसुओं से भरी हुई थीं।

जब कन्या पीहर से ससुराल जाती है तो पीहर को देख करके वह सोचती है—मैं इस घर के आंगन में खेली

हूं और आज यही घर छूट रहा है अदृष्ट मुझे और ले जा रहा है । जीवन में जिन्हें अपना माना था, वे बनते जा रहे हैं और जिन्हें देखा नहीं, जाना नहीं, आत्मीय बनाना होगा ! स्त्रीजीवन की यह कैसी वि। है ! मानों एक ही जीवन में स्त्री के दो, एक दूसरे से जीवन हो जाते हैं । क्षण भर में 'ममता' का क्षेत्र जाता है !

तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो जो बात स्त्री जीवन में घटित होती है, वह मनुष्य मात्र के जीवन यहां तक कि जीवमात्र के जीवन में घटित होती है । अ है तो केवल यही कि स्त्रीजीवन की परिवर्त्तन-घटना अ के सामने होती हैं, जब कि दूसरों की आंखों से ओ होती है । इतना अन्तर होने पर भी असली चीज जगह समान है । इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता । जिन्हें तुम अपना मान रहे हो, वे क्या अनादि काल तुम्हारे हैं और अनन्त काल तक तुम्हारे रहेंगे ? ही कहा है—

पहले था मैं कौन, कहां से आज यहां आया हूं
किस किसका सम्बन्ध अनोखा तज कर क्या लाया हूं ?
जननी जनक अन्य हैं पाये, इस जीवन की वेला,
पुत्र अन्य हैं, पौत्र अन्य हैं, अन्य गुरु हैं चेला ।

× × × ×

चिरकालीन संगिनी पहले मैंने जिसे बनाया,
कुछ ही क्षण में छोड़ उसे अब आज किसे अपनाया?
अन्य धाम धन धरा जीव ने इस जीवन में पाया,
आगामी भव में पाएंगे, अन्य किसी की माया।

× × × ×

पूर्व-भवों में जिस काया को बड़े यत्न से पाला,
जिसकी शोभा बढ़ा रही थी मणियां मुक्ता-माला।
वह कण-कण बन भूमण्डल में कहीं समाई भाई,
इसी तरह मिटने वाली वह नूतन काया पाई।

भक्तजन कहते हैं—हम भी कन्या हैं। संसार हमारा ससुराल है और ईश्वर का घर पीहर है। कर्म की प्रेरणा से आत्मा को संसार में निवास करना पड़ता है। जैसे कन्या ससुराल में आकर भी अपने पीहर को नहीं भूलती, उसी प्रकार संसार में रह कर भी भगवान् को भूलना उचित नहीं है।

कुन्ती, माद्री और गांधारी को यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि पुत्रवधू द्रौपदी आ रही है। उन सब को विदित हो चुका है कि द्रौपदी कोई साधारण वधू नहीं है। स्वयंवर में उसकी चेष्टाएं देख कर उन्होंने उसका महत्त्व जान लिया है। इस कारण पुत्रवधू के आगमन को जान कर उनकी प्रसन्नता का पार न रहा। दूसरी ओर द्रौपदी की माता के दिल की वेदना को कौन जान सकता है?

सर्वज्ञ उस वेदना को जान सकते हैं पर अनुभव वे करते । अनुभव तो वही स्त्री कर सकती है, जो स्वयं हो और जिसने अपनी प्राण प्यारी कन्या को विदाई हो ! द्रौपदी की माता सोचने लगी—जिसके लिए ...र के बड़े-बड़े राजा दौड़ कर आये थे, वही आज जा ... है । यह घर सूना हो रहा है और साथ ही मेरा हृदय भी

द्रौपदी तथा उसकी माता आदि के आने पर कुन्ती आदि खड़ी हो गईं । सब का यथायोग्य आदर-सत्कार किया, भेंट की । उचित आसन दिया । तब कुन्ती ने द्रौपदी की माता से कहा—महारानीजी, आपने अपनी कन्या रूपी लक्ष्मी से हमें खरीद लिया है । आपकी उदारता की कितनी सराहना की जाय, जो कन्या और धन-सम्पति लेकर आप स्वयं देने के लिए पधारी हैं । आपने हमें बहुत सम्मानित किया है, बहुत उपकृत किया है ।

द्रौपदी की माता ने कहा—समधिनजी, कन्या का दान करना कोई एहसान की बात नहीं है । यह तो समाज का अटल विधान है । एहसान तो आपका है, जो आपने इसे स्वीकार किया है । देना तो मेरे लिए अनिवार्य था मगर लेना आपके लिए अनिवार्य नहीं था । फिर भी आपने अनुग्रह करके मेरी कन्या को ग्रहण कर लिया, यह मेरे ऊपर आपका उपकार है ।

कुन्ती—आप बहुत गुणवती हैं, इसी से आप ऐसा कहती हैं । नहीं तो द्रौपदी जैसी लक्ष्मी को पाने के लिए कौन लालायित नहीं होता ?

द्रौपदी की माता ने द्रौपदी की ओर मुंह फेरकर और एक गहरी सांस लेकर कहा—बिटिया ! देख, तू बड़भागिनी है, तुझे ऐसी सास मिली है।

फिर वह कुन्ती से कहने लगी—आप हमारी बड़ाई न करें। आपने हमें जो दिया है, वह कम नहीं है। आपने मेरी लड़की को सुहाग दिया है। स्वयंवर-मंडप में हमारी लाज रख ली है। आप अपने विनीत कुमारों के साथ हमारे यहां पधारीं। यह सब आपकी बहुत कृपा है। आपके साथ संबंध होने से अब देव भी हमें छल नहीं सकते—जीत नहीं सकते। आपका कौरव-वंश धन्य है, जिसमें ऐसे-ऐसे वीर-रत्न उत्पन्न हुए हैं।

इसके बाद द्रौपदी की माता आदि लौटने को तैयार हुई। फिर नेत्रों के मेघ बरसने लगे। सबके हृदय गद्गद् हो गए। अन्त में द्रौपदी सबको प्रणाम करके अपनी सास के पास खड़ी हो गई।

कुन्ती ने द्रौपदी को आशीर्वाद देते हुए कहा—हे पुत्री ! हे कुलवधू, तेरा सुहाग अचल रहे। तेरी गोद भरी रहे। तू पाण्डवों के घर वैसी है, जैसी हरि के यहां लक्ष्मी, इन्द्र के यहां इन्द्रानी और चन्द्र के यहां रोहिणी। तुम्हारे पति सार्वभौम शक्ति के विजेता हों और तुम सदैव उनकी सहायिका रहो। हे वधू ! तू मेरे कुल की समस्त सम्पत्ति की स्वामिनी है, परन्तु मेरे घर जो मुनि या दीन-दुखी या भिखारी आवें तो उनके यथायोग्य सत्कार में कमी मत

रखना । पुण्य की रक्षा करना और उसे सम्पदा की तरह बढ़ाना । मेरे घर किसी अतिथि का अनादर न हो । आज से हम तेरे भरोसे हैं । तू घर के सब छोटों-बड़ों का आशी-र्वाद लेना । हे द्रौपदी, ऐसा समय आवे कि तेरे पुत्र हों और वधू तेरे जैसी गुणवती हो । जिस प्रकार आज मैं तुझे आशीर्वाद दे रही हूं, उसी प्रकार तू भी उन्हें आशी-र्वाद देना ।

आपके व्यवहार में धर्म बस जायगा तो अधर्म की ओर आपकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यह स्थिति प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जीवन का कर्त्तव्य होना चाहिए। वे भाग्य-शाली हैं, जो निरन्तर धर्म की शीतल छाया में रहकर शांति का अनुभव करते हैं। आपको सद्बुद्धि प्राप्त हो और आप भी शांति का अनुपम रसास्वादन करें।